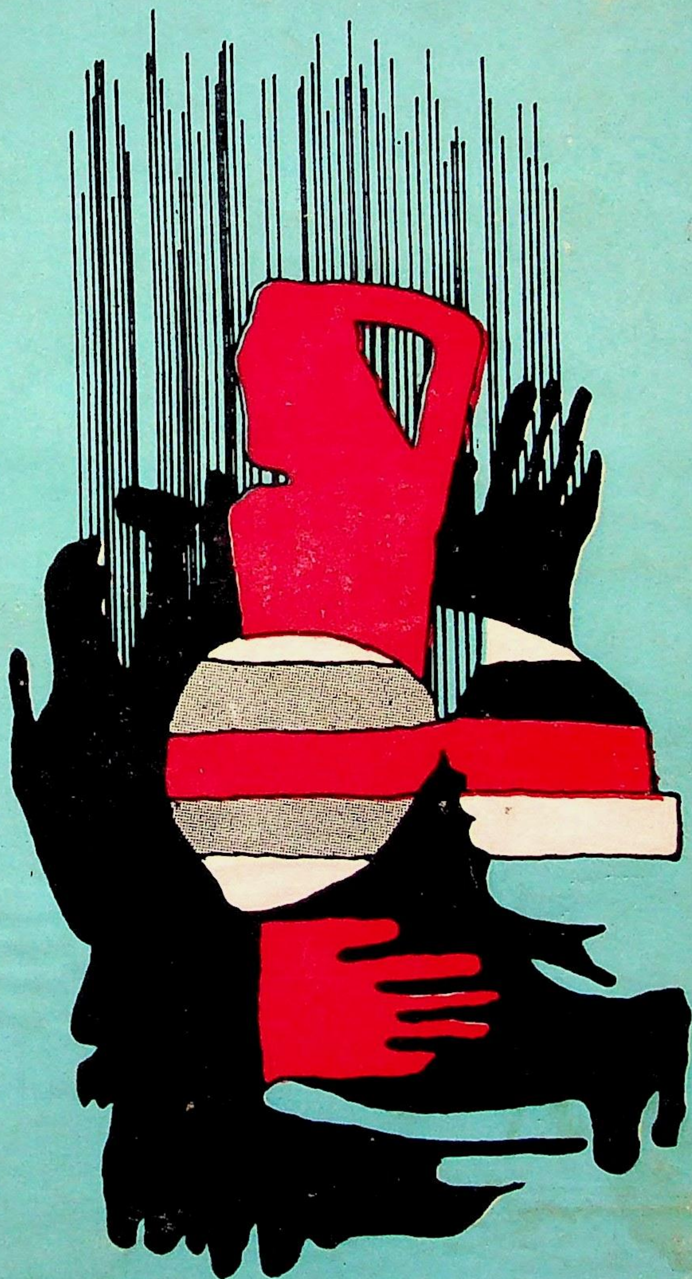
सिद्धार्थ से पूछूँगा

वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता



भाई रतन लाल शाँत के लिए

सस्नेह।

[illegible]

सिद्धार्थ से पूछूँगा

(कहानी-संग्रह)

[illegible]

([illegible])

सिद्धार्थ से पूछूँगा

वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता

अभिषेक पब्लिकेशंस
एस॰ सी॰ ओ॰ 57-58-59, सेक्टर 17-सी, चण्डीगढ़

प्रकाशक : अभिषेक पब्लिकेशंस
एस० सी० ओ० 57-58-59, सेक्टर 17-सी, चण्डीगढ़

प्रथम संस्करण : 1994

मूल्य : 60.00 रुपये

मुद्रक : सुभाष प्रिंटर्स
शाहदरा, दिल्ली-110032

SIDHARTH SE POOCHOONGA
by Virendra Mehndiratta

प्यारे दोस्त
प्रेम सागर शास्त्री जी को
जिनके सूत्र-वाक्य
मेरी समझ को
सदा बढ़ाते रहे !

क्रम

आत्म कथ्य : गर्दिश के दिन

पाकिस्तानी लोक-गायिका रेशमा का स्वर हमेशा मुझे पश्चिमी पंजाब के अपने घर की याद दिलाता है और लोक-गीत सुनता हुआ मैं लायलपुर के पास झंग-मघियाने के भभराने मुहल्ले की गलियों में पहुँच जाता हूँ—लम्बे ऊँचे कद के मुसलमान पड़ोसियों के बीच : रहमत धोबिन का झुर्रियोंदार चेहरा और बालियों से पिरोये कान, वल्ली नाई का हकीमाना अन्दाज और पगड़ी का तुर्रा, हुक्मी भड़भूंजे की बेपनाह मस्ती और उसकी जवान बेटी की चाल का लापरवाह अन्दाज—ये सभी चित्र एक क्षण में आँखों के सामने से गुजर जाते हैं। आवाज में भी मिट्टी की गंध होती है और एक लोक-गीत की लय पूरे परिवेश को इतना सजीव कर सकती है, पहले नहीं जाना था। और यह भी नहीं कि बरसों बाद भी उस मिट्टी की गंध का हलका-सा झोंका आदमी की जिन्दगी में नशा भर सकता है। शायद मिट्टी से आदमी का नाता कभी नहीं टूटता। और मिट्टी की गन्ध उसे अपनी पहचान के मादक जर्रों से सराबोर करती रहती है। लेकिन इस सबके बावजूद क्या वह जानता है कि जिन मादक जर्रों से उसके मन-प्राण बने हैं उसका इतिहास शिनाख्त के काबिल होते ही आदमी को तटस्थ बना देता है।

…और मेरे मन में एक बिम्ब उभरता है। ऑपरेशन-थियेटर में एक मरीज लेटा हुआ है और पास ही रबड़ के दस्ताने पहने साजो-सामान के साथ खड़ा है एक डॉक्टर। पर हैरानी इस बात की है कि इस ऑपरेशन में मरीज भी मैं खुद हूँ और डॉक्टर भी स्वयं। सोचता हूँ, नश्तर उठाऊँ और अपने सही-गलत, कच्चे-पक्के नासूरों में खुबो दूँ। शायद इस कोशिश में अपने-आपको बेहतर समझ सकूँ। शायद इस ऑपरेशन से स्वास्थ्य-लाभ हो।

अतीत की अनेक घटनाओं के बीच अपना एक धुंधला-सा चेहरा सामने आ रहा है—पहचाना और बे-पहचाना। परिस्थितियों की विवशताओं ने इस चेहरे को आड़ी-तिरछी रेखाएं दी हैं। समय की धूल की परतें इस चेहरे पर स्थायी रूप से जम गयी हैं। कई तरह की नौकरियों ने इस चेहरे पर फिट आने वाले मुखौटे बनाए हैं—अनेक मुखौटे और उन मुखौटों को तुरन्त बदलने की कुशलता!

तमाम तटस्थताओं के बावजूद मुझे सन्देह है कि इन मुखौटों और गर्द को हटाकर भी असली चेहरा कुरेदा और पहचाना जा सकता है ? हालाँकि, गर्दिश के दिनों की कहानी में तो असली-नकली—सभी चेहरे सामने आने चाहिए। क्योंकि पूरा सच तो इन दोनों की पहचान में ही सम्भव होगा।

यादों के आततायी चेहरों पर एक जबरदस्त खरोंच मारता हूँ और एक तसवीर उभरती है।…तीन साल का एक बच्चा एक बड़ी कोठी के खाली कमरों में इधर से उधर घूम रहा है। घर का सामान एक ट्रक पर लादा जा रहा है। माहौल में एक उदासी है। बार-बार उसे टोका जाता है—'इधर से हटो, उधर से हटो! जब देखो काम के वक्त ठीक बीच में आ खड़ा होगा, हटो-हटो एक तरफ…!' किसी को उसकी फिकर नहीं। बच्चा अपने-आपको एक फालतू सामान की तरह महसूस करता है। सोचता है, अगर वह पलंग, कुर्सी या मेज होता, उसे बड़ी एतिहात के साथ ट्रक में टिका दिया जाता। पर असलियत यह है कि वह अपने रिटायर हो रहे पिता की आठवीं सन्तान है। घरवालों की परेशानी यह है पिता रिटायर हो रहे हैं और बेटा सिर्फ तीन साल का क्यों है ? या, बेटा सिर्फ तीन साल का है तो सरकार पिता को रिटायर क्यों कर रही है ?…फालतूपन का यह अहसास बच्चे के अन्तर्मन का हिस्सा बन जाता है जो आगे चलकर एक विराट रूप ले लेता है। हालांकि इस फालतूपन से लड़ते-लड़ते बच्चा पूरा वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता हो जाने तक एक पूरा संसार ओढ़ लेता है जिससे फालतूपन से बचा जा सके। जबकि उसका ओढ़ा हुआ संसार उसे दूसरे किस्म के फालतूपन की तरफ धकेल देता है।

परिवार!

यादों के कुहराम की एक दूसरी तसवीर माँ की है। शायद वह माँ ही है जो चारपाई के पैताने पर गठरी-सी बनकर बैठी हुई, घुटने पर हाथ की कोहनियाँ, हथेलियों से माथा सँभाले, दमे की खाँसी से बेहाल, जैसे एक-एक साँस के लिए पूरे शरीर की ताकत लगा रही हो—और पास ही जमीन पर बलगम से भरी चिलमची।…माँ की कातर निगाहों में सिर्फ खाँसी और दमे की तकलीफ का अहसास ही नहीं होता था, बल्कि कई बार उनमें से विवशता का एक अजीब भाव टपकता। लगता, वह अपने बच्चे को लेकर परेशान हैं। चिन्ता उनकी निगाहों से झाँकती—इसका क्या बनेगा! इसका क्या बनेगा!!

अचानक उन निगाहों से प्यार उमड़ता और छूने न छूने की चिन्ताएँ और फैसले उसे बेदम कर देते। सिर्फ निगाहों का प्यार एक बच्चे के लिए काफी नहीं होता। बच्चे को तो गोद चाहिए। गोद की सुरक्षा में ही वह सारी दुनिया से

टकराने की ताकत पाता है। नहीं तो उमर-भर असुरक्षा का भाव बना रहता है। पता नहीं, माँ यह सब सोचती थी या नहीं ! किन्तु बच्चा, उस समय यह सब सोच पाने की स्थिति में न रहते हुए भी, चाह माँ की गोद ही रहा होता था।

माँ बीमार थी, इसमें शक नहीं, किन्तु···? पिता को शायद पत्नी की बीमारी थी—उसे ठीक और भरपूर देखने की बीमारी ! उनका सारा ध्यान पत्नी की बीमारी की ओर रहता। वे अर्से से उस दवाई की तलाश में थे जिससे उसका दमा ठीक हो जाए। जब किसी नयी दवाई का पता चलता, उन्हें महसूस होता कि बस, इसे खाते ही पत्नी की तकलीफ तुरन्त दूर हो जाएगी। पता लगने-भर की देर होती—फलाँ डॉक्टर, हकीम या वैद्य ने एक दमे के मरीज को ठीक किया है। फिर क्या था—पिता उसकी तलाश में, निकल पड़ते! भले ही वह कोसों दूर किसी शहर में रहता हो, किसी दूर-दराज कस्बे में किसी पहाड़ी गाँव में या जंगलों में धूनी लगाए फकीर हो—पिता उसे जरूर ढूंढ़ निकालते।

हर दूसरे-तीसरे महीने नये इलाज की तैयारी होती। मुझे याद है कि हमारे घर का माहौल केवल इन्हीं दिनों खुशनुमा होता। पिता की आँखों में एक चमक होती और परिवार के सभी सदस्यों में स्फूर्ति। हमाम-दस्ते खनकने लगते, भस्में तैयार होतीं, अर्क और कुश्ते बनाए जाते···कभी असली शहद की तलाश हो रही है और कभी बकरी के दूध की, कभी काली गाय के पेशाब में दवाइयाँ भिगोई जा रही हैं और कभी पूर्णिमा की रात को चाँदनी में खीर पकाकर रखी जा रही है। ···पन्द्रह साल तक पिता उस संजीवनी बूटी की तलाश में रहे जिससे माँ की बीमारी ठीक हो सकती, किन्तु हर दवाई के साथ बीमारी का प्रकोप बढ़ता जा रहा था। इन दिनों माँ और पिता के बीच भी एकमात्र कड़ी बीमारी और इलाज की ही थी। माँ बीमारी से जूझती रही, और पिता इलाज के लिए भटकते रहे। और मैंने अनजाने ही विरासत में पा ली—माँ की तरफ से बीमारी और पिता की दी हुई भटकन !!

बीमारी···!

बीमारी नहीं, बीमारियाँ !!

यह शायद लम्बे-ऊँचे-कद्दावर पठानों के शहर रावलपिंडी में जन्म लेने का ही परिणाम था कि अपने जीवनकाल में आयी हर बीमारी का सामना बड़ी हिम्मत के साथ किया, लेकिन जब बीमारी हद से ज्यादा दबोच ले तो—सुना है दस साल की उमर तक हर वसन्त में फोड़े-फुंसियों से मेरा सारा शरीर गल जाया करता। हर साल यही सोचा जाता—इस बार नहीं बचेगा—मृत्युंजय के पाठ और अनेक तरह की पूजा होती—और मैं ठीक हो जाता। ···ग्वालियर में अचानक बुखार आने लगा—टाइफाइड है—पर टाइफाइड नहीं—फिर क्या है

—दवाइयों पर दवाइयां और साल-भर नब्ज हाथ में रही—शायद जिगर कमजोर हो गया है।···पी-एच० डी० की भटकन में न जाने कहाँ 'इन्फेक्टिव हैपेटाइटिस' ले आया—पेशाब के रास्ते से खून और रगों में पीला पानी···डॉक्टर ने हौंसला छोड़ दिया, पत्नी ने नहीं छोड़ा, और धीरे-धीरे ठीक होने लगा।

···पोरफायरिया[1], सारा शरीर बिना हरकत के पड़ा है। जीवित लाश मशीनों से घिरी है। नाक से नली—खाने के लिए। गले में सुराख ऑक्सीजन के लिए। रीढ़ की हड्डी में पंचर किए गए—लम्बर पंचर। डायलेसिस से सारा खून साफ किया जा रहा है। बचने की उम्मीद—तीन परसेंट···दस दिन बीत गए। बचने की उम्मीद—दस परसेंट···बीस दिन और बीत गए। बच जाए, पर शायद हाथ-पाँव न चला पाए। हाथ-पाँव नहीं चल पाएँगे तो जीना किसलिए?—जिन्दगी एक बोझ हो जाएगी···मन में बगूला उठया—सिंपिथी किलिंग डॉक्टर! 'आई नीड सिंपिथी किलिंग'—और निगाह पत्नी की ओर जाती है। उसके चेहरे पर होता एक संकल्प, एक निश्चय और एक विश्वास। लगता है, शायद सत्यवान को यम के पंजे से छुड़ाते हुए सावित्री के मन में भी ऐसा विश्वास रहा होगा—अचल, अडिग और दृढ़। और इस सावित्री के साथ खड़ा था मेरा बड़ा भाई जिसने उस विश्वास को सिद्धि तक पहुँचाया—और मैं मौत के दरवाजे पर दस्तक देकर लौट आया। सही-सलामत। उम्र की पूरी ऊँचाइयों तक सहमा हुआ-सा भी बीमारी से लड़ने का इरादा लिए। मुझे लगता है कि इन बीमारियों का मेरी जिन्दगी पर बहुत गहरा असर है। इन्हीं की वजह से सामने आयी अनेक चुनौतियों से टकरा नहीं पाया। एक धीमी गति से चलने वाली सुरक्षित जिन्दगी से सन्तोष किए बैठा हूँ। इन्हीं की वजह से घुमक्कड़ प्रवृत्ति का यायावर घर के खूँटे से बँध गया है। इन्हीं की वजह से बेधड़क मस्त जिन्दगी जीने की कामना धीरे-धीरे दम तोड़ रही है और चेहरे पर कुछेक ऐसी लकीरें उभर रही हैं जिन्हें छात्र टीचराना संजीदगी की लकीरें कहते हैं।

भटकन!

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी का गोल्डन जुबली होस्टल। सुरेन्द्र चतुर्वेदी हाथ देखकर कहता है—'यू वुड बी ए रोलिंग स्टोन।' मैं ठहाका लगाता हूँ, लेकिन फिर अचानक हाथ खींच लेता हूँ, इस भय से कि कहीं कुछ और न पढ़ ले। हालांकि उस सबको ठोकर लगाने की इच्छा भी होती है। भविष्यवाणी को ठोकर मार सका या नहीं, लेकिन खुद ठोकरें बहुत खायी हैं। लगता है, यह भटकन

1. एक बीमारी का नाम।

हमेशा बनी रहेगी। रोलिंग स्टोन—स्टोन यानी पत्थर, और पत्थर से मुझे अपने एक मित्र की कविता याद आ रही है—ठोकरें खाकर गोल हुए पत्थर को देखकर यह न समझो कि इसकी नोकें घिस गयी हैं। ये नोकें घिसी नहीं, अन्दर की ओर मुड़ गयी हैं।

सोचता हूँ शायद अन्दर की ओर मुड़ी इन नोकों की चुभन हमेशा-हमेशा के लिए रहेगी !

माँ के इलाज के लिए सारा परिवार लाहौर आया हुआ है। तीन साल का बच्चा अब पाँच साल का है। बच्चा ड्राइंग-रूम के बीचोंबीच खड़ा है। अतिथियों के मनोरंजन के लिए इस बच्चे के जिद्दीपन की कहानियाँ सुनायी जा रही हैं :

एक बार बिना इसे पूछे माँ नहा आयी तो इसने जिद पकड़ ली—मिट्टी मलकर आओ। अतिथि और परिवार के लोग देर तक ठहाके मारते रहे। यह बीमार था, माँ बिना पूछे पेशाब करने चली गयी और यह जिद पकड़ बैठा…।

जोर का ठहाका हुआ और इसके मन पर कहीं गहरी चोट लगी। अपमानित भी महसूस किया। यह रोता हुआ सामान वाले स्टोर में चला गया। सिसकते-सिसकते वहीं सो गया और घंटों किसी ने सुध न ली। सारा दिन खाना नहीं खाया। घर वाले परेशान कि कौन इस जिद्दी से माथा-पच्ची करे !

लाहौर के हमारे घर का माहौल भी निराला ही था। पैलेस सिनेमा के सामने डिंगासिंह बिल्डिंग का ऊपरी फ्लैट। सबसे बड़े भाई की माल रोड पर दुकान। पुरानी मोटर-कारों के कल-पुर्जे बदलना और रंगरोगन करके बेचने का बिजनेस। रईसी का नया चस्का। घर में चौके-बर्तन के लिए अनपढ़ बीवी और बाहर की शान के लिए टीचर प्रेमिका। रिटायर्ड बाप, बीमार माँ, बी० एड० तथा बी० ए० की परीक्षा की तैयारी करती दो बहनें, इंजीनियरिंग कॉलेज में पढ़ रहा भाई। बड़े भाई ने अपने प्रयोग के लिए एक छोटी-सी बेबी-आस्टिन कार रखी हुई थी। इस कार में घर के सभी सदस्यों के लिए जगह थी। एक अर्से तक यह गाड़ी सब का बोझ ढोती रही।

पर एक दिन पाया कि पूरे घर की गाड़ी पटरी से उतर गयी है। ऐसा क्यों हुआ और कैसे हुआ—ठीक से नहीं कह सकता, पर इतना जरूर जानता हूँ कि इस बीच दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। पहला, बड़े भाई ने घर आना कम कर दिया। सुनने में आया कि उनकी टीचर प्रेमिका ने जकड़न बढ़ा दी है। दूसरा, बड़े भाई का एक दोस्त हमारे मकान में रहने के लिए आया और कुछ महीनों में ही घर का सदस्य बन गया—बहिनों का धर्म भाई और पिता का धर्म-बेटा। बस, चन्द महीनों में ही घर की हालत यह हो गयी कि कोई दिन ऐसा न गुजरता जब घर में लड़ाई-झगड़ा न होता। फिर महीनों आपस में बोलचाल बन्द—बड़े भाई

और उनके मित्र में, बड़े भाई और बड़ी बहिन में। घर में गुट बन गए एक से बात करो, दूसरा नाराज; एक प्यार दे तो दूसरा उलाहने; कहाँ जाना है, कहाँ नहीं जाना है, क्या करना है, क्या नहीं करना, क्या ठीक है, क्या गलत है ??? इस सबका विवेक उसे कौन दे ? दे भी तो क्या ? इस घर में तो एक का गलत दूसरे का ठीक हो जाता था। घर के इस खिचे-खिचे तनावपूर्ण माहौल में अगर वह बच्चा अधिक मनमानी करने लगा था तो यह उसका कसूर नहीं था।

बिगड़ैल—इस बच्चे ने एक विशेषण अर्जित किया और अब इस बिगड़ैल बच्चे को लेकर घर में तूफान उठा करता !

ऐसे ही एक तूफान में यह तिनका ग्वालियर पहुँच गया। बिगड़ैल बच्चे को सुधारने के लिए इसे, उसकी माँ, पिता, बहिनों और भाइयों से अलग करने का फैसला लिया गया। सोचा गया कि उनके अतिरिक्त लाड़-प्यार से यह बच्चा दिन-प्रतिदिन बिगड़ता जा रहा है। अकेला रहेगा तो होश आ जाएगा, अकल ठिकाने लग जाएगी। इसी कारण अविवाहित भाई के साथ अकेले रहने के लिए उसे ग्वालियर भेजा गया।

ग्वालियर के निकट मोरेना में डिस्ट्रिक्ट इंजीनियर की बड़ी कोठी, रहने वाले सिर्फ तीन—भाई, मैं और नत्थू। इस कोठी का सिर्फ अँधेरा याद है या रसोई के चूल्हे में जलती लकड़ियों की आग। भाई दफ्तर जाते या टूर पर—मेरा अधिक समय रसोई-घर में नत्थू के साथ बीतता। नत्थू को 'रूप-बसंत' की एक कहानी आती थी। इस कहानी को बीसों बार सुना होगा। बाद में साथियों का घेरा बढ़ा और खरगोश तथा हिरण पाले। अब हम चार थे—नत्थू, मैं खरगोश और हिरण ! नत्थू की छाप मन पर इतनी गहरी थी कि सालों बाद शिमला में एक दुकान पर 'नत्थू हलवाई' का बोर्ड पढ़कर देर तक दुकानदार को खोजती निगाहों से देखता रहा।

मोरेना में भाई के साथ अकेले बिताए दिनों की याद के साथ जुड़ा हुआ है एक ग्रामोफोन—पुराना, साउंड-बॉक्स वाला। लालटेन की धीमी रोशनी में भाई को रिकार्ड सुनना और गुनगुनाना अच्छा लगता। मैं रिकार्ड लगाता। भाई टहलते हुए सुनते। और मैं दिन-भर इन्तजार करता, कब रात होगी और कब···भाई एक बार दिल्ली से लौटे तो पंकज मालिक का एक रिकार्ड साथ लेते आए—'पिया मिलन को जाना··।' यह रिकार्ड सुबह-दुपहर-शाम, हर वक्त बजने लगा और फिर भाई की शादी हो गयी। कोठी का अँधेरा छँटने लगा और कोठी घर बन गयी। पर न जाने क्यों मुझे लगने लगा, भाई ने शादी मेरे लिए की है। मुझ पर, मेरे अकेलेपन पर तरस खाकर। मैं दिन-रात भाभी के साथ चिपका रहता और जिद करता कि भाभी के साथ सोऊँगा, भाभी के कमरे में सोऊँगा और

शायद कुछ दिन तक भाभी के कमरे में सोया भी। इसकी शिकायत भाभी को आज तक है। इस जिद्दी और बिगड़ैल बच्चे को सँभालना आसान काम नहीं था। लेकिन भाभी ने एक युक्ति ढूंढ़ निकाली। अलग कमरे में सोने की कीमत—एक लम्वी कहानी। इसी दौरान भाभी ने मुझे प्रेमचन्द, शरत्‌चन्द्र, टैगार, तोलसतोय, चार्ल्स डिकन्स, आस्कर वाइल्ड और चेखव की कहानियाँ सुनायीं।

जिद्दी बच्चा आज्ञाकारी बन गया और उसे आत्मग्लानि होने लगी कि वह इतना जिद्दी क्यों था! भाभी ने बताया, हर बड़ा आदमी बचपन में जिद्दी और शरारती होता है और बच्चे के मन में बड़ा आदमी उछलने लगा।

भाभी ने बताया, टैगोर तुम्हारी तरह ही घर में सबसे छोटे थे—और सबसे छोटा बच्चा प्रतिभावान होता है…। प्रतिभावान होता है या नहीं, कह नहीं सकता, किन्तु इतना जरूर जानता हूँ कि भाभी की इस बात ने जादू का असर किया। मेरा सारा ध्यान पढ़ाई में लग गया। बड़ा आदमी बनने की, एक साहित्यकार बनने की कामना जागी। मैट्रिक में 76 प्रतिशत अंक पाए और तुकबन्दी करने लगा। लाहौर के 'हिन्दी मिलाप' में जब पहली कविता के नाम पर तुकबन्दी छपी तो रात-भर जागकर अखबार की प्रतीक्षी करता रहा।

इधर माँ का देहान्त हुआ और उधर देश का बँटवारा। एक माँ चल बसी, दूसरी से जबरदस्ती नाता तोड़ दिया गया। पिता हर शरणार्थी की तरह बरसों पाकिस्तान में छोड़े अपने मकान की ईंटों का हिसाब-किताब करते रहे। भाई, अपने-अपने परिवारों के लिए आश्रय की तलाश में भटकते रहे। इस संकट की घड़ी में सभी की जुदा-जुदा लड़ाई थी। मैं एक बार फिर अकेला पड़ गया और इस बार शायद उखड़ भी गया!

रोलिंग स्टोन…!

कभी देहरादून, कभी शिमला, कभी लुधियाना, कभी दिल्ली, कभी तम्बुओं में, कभी होस्टल में, कभी इसके मकान में, कभी उसके मकान में। पहाड़ी से लुढ़कते पत्थर की तरह। रुकेगा कहाँ, मालूम नहीं।

पिता इंजीनियर। पाँच में से चार भाई भी इंजीनियर। सभी चाहते, वीर भी इंजीनियर बने। गणित और भौतिक-विज्ञान पढ़ते हुए वीर ने महसूस किया कि यह उसका रास्ता नहीं। रास्ते की तलाश में चार साल बीत गए। और सवाल फिर भी कायम।

रास्ता है कौन-सा?

शिमला में ऊँचे पहाड़, दूर तक दिखायी देने वाली बर्फीली चोटियाँ, नीला आसमान, छितराए बादल, देवदारू के वृक्ष, इन वृक्षों के वन, इन वनों के बीच

की पगडंडियाँ—मेरे सबसे प्रिय साथी थे। इनसे दोस्ती पक्की करने के लिए ही मैंने पेंट करना शुरू किया। हाथ में स्कैचबुक लिए अकेले घूमते हुए मैंने कभी अकेलापन महसूस नहीं किया। मौके बे मौके, जगह बे जगह, वक्त बे वक्त स्कैच करता और एक अजीब जुनून चढ़ा रहता। इन्हीं दिनों वेन-गॉग की जीवनी पर आधारित उपन्यास 'लस्ट फॉर लाइफ' पढ़ा था। मुझे लगा मेरी मूल प्रवृत्ति चित्रकार की है।

विभाजन की विभीषिका और संभ्रान्त वर्ग की आडम्बर-प्रियता की विसंगति, शिमला की माल रोड पर इस कदर उभर कर आती कि एक अजीब कटुता सदा मन में बनी रहती। जिस माल रोड की शोभा-यात्रा देखने लोग दूर-दूर से आते वह मुझे मुखौटे पहने विदूषकों की परेड लगती। मेरी उमर के लड़के युवा लड़कियों का पीछा करते माल के बीसों चक्कर काट लेते और मैं रात के अंधेरे में घंटों टिमटिमाते शहर की सर्दी पीता। मैं परेशान था कि कभी अपने हम-उमर लड़कों के स्वर में स्वर मिलाकर माल पर चलने वाली लड़कियों पर रिमार्क क्यों नहीं कस सका?…किसी को 'थ्री-नाट-थ्री' या किसी को 'चम्पा की कली' क्यों नहीं कह सका? इतनी जल्दी बुढ़ा क्यों गया? मेरे नजरिये में इतनी तिक्तता क्यों थी? सामरसेट माम का 'आप ह्यूमेन वाडेज' पढ़ा। जेब में नोटबुक रखनी शुरू कर दी। जब जो सूझता नोट कर लेता। 'शिमले की क्रीम' कहानी-संग्रह के नोट इन्हीं दिनों लिये।

किन्तु फैसला अभी तक नहीं हुआ था कि करना क्या है? बनना क्या है?

चित्रकार?

चित्रकार भूखों मरते हैं।

मैं भूखों मरने के लिए तैयार हूं।

यह बचपना है!!

और मैं चित्रकार नहीं बन सका।

साहित्यकार?

साहित्यकार भूखों मरते हैं।

मैं भूखों मरने को तैयार हूं।

तुम पागल हो!

मैंने जोर लगाया और इस पागलपन की तैयारी में जुट गया।

एक दोस्त ने सुझाया—हिन्दी एम० ए० कर लो। लिखने-लिखाने के लिए पृष्ठभूमि और तैयार हो जाएगी।

और मैं इलाहाबाद पहुंचा। साइंस का छात्र साहित्य की ओर। एक ऐसा

छात्र जिसकी मातृभाषा पंजाबी थी, उन छात्रों के साथ बैठकर हिन्दी पढ़ रहा था जिनकी मातृभाषा हिन्दी थी। एक अजीब बौनी मानसिकता के साथ अपने सहपाठियों की ओर देखता। किन्तु अपनी सृजन-शीलता के प्रति आश्वस्त यह संघर्षशील छात्र छुट-पुट विरोधों के बावजूद आगे बढ़ने लगा। यूनिवर्सिटी ही नहीं, शहर-भर के साहित्यकारों में पहचाना जाने लगा।

इलाहाबाद में बिताये दो साल अर्से तक मुझे हॉन्ट करते रहे। पारिवारिक और वर्गीय संस्कारों से मुक्त होकर एक फक्कड़ जिन्दगी जी। इलाहाबाद की यह जिन्दगी एक मोड़ साबित न होती यदि मेरा परिचय उपेन्द्रनाथ अश्क से न होता। मैंने अश्क से बहुत कुछ सीखा। कहानी की बुनतर और कहानी की तराश, शब्दों का चयन और शब्दों का प्रयोग, लेखन और शोधन—शोधन और लेखन। सीखी और देखी एक लगन, मेहनत करने की क्षमता। उपेन्द्रनाथ अश्क के नजदीक रहकर एक सच और जाना कि आम आदमी और साहित्यकार में कतई कोई फर्क नहीं होता। कतई कोई फर्क नहीं।

मेरा पागलपन संवरने लगा। मैं आदमी बनने लगा। लेकिन जिन्दगी लगातार ढीठ और बेशर्म बनकर टकराती रही।

साहित्यकाराना जिन्दगी जीने के बाद सरकारी नौकरी के बन्धनों की तकलीफ अर्से तक भोगता रहा। जल्दी ही मुझे पता चल गया कि अध्यापन और लेखन दोनों साथ-साथ नहीं चल पाएँगे। लेकिन सुरक्षा की भावना तर्क देती—बहुत से लोग चला रहे हैं, तुम भी कोशिश करके देखो। और जेब में त्यागपत्र डालकर महीनों कॉलेज में पढ़ाता रहा। जब त्यागपत्र देने की सोचता; सुरेन्द्र चतुर्वेदी का वाक्य—'यू वुड बी ए रोलिंग स्टोन'—दिमाग में घूम जाता और मेरा हाथ थम जाता। सुरक्षा की रासें बाहरी मस्ती को कसे थीं। कैरियर की रेस में आस-पास लोग दौड़ रहे थे। एक अजीब वितृष्णा होती। अपने-आपको उस सबसे अलग रखने की कोशिश करता और सोचता कि कभी वह दिन आयेगा, जब अपने-आपको संयोजित करके साहित्य-सृजन कर सकूंगा। उन्नीस साल तक सरकारी नौकरी की और मन में सदा यह चोट बजती रही—'जंग लग रहा है। जंग लग रहा है।' टीचरी की नैतिकता के जबरदस्त अहसासों ने मुझे कॉलेज से घर के बीच चलने वाली शटल बना दिया। मुझे लगता, मेरा यह शटलपन सृजन के भीतरी अंकुर को बढ़ने नहीं दे रहा। मुझे मेरी दुनिया से काट रहा है। 'आई वाज नॉट टू बी ए टीचर।' एक अजीब छटपटाहट महसूस करता। मुझे कुछ

करना चाहिए, मुझे कुछ करना चाहिए !! और मैं पहले से अधिक टीचरी माहौल में धंसता जाता ।

क्या करना चाहिए ?

स्वतन्त्र लेखन के लिए नौकरी छोड़ दूं ?

मेरी पत्नी ? मेरे बच्चे ? ? ?

'इस छटपटाहट से अच्छा है नौकरी छोड़ दें'—पत्नी के इस कथन ने जैसे मुझे मुक्त कर दिया । किन्तु यह मुक्ति मेरे लिए बन्धन बन गयी । साथ ही लगा कहीं यह निर्णय रोलिंग स्टोन वाली नियति के इशारे से तो नहीं ?

फिर रास्ता क्या है ?

यूनिवर्सिटी में साहित्य-सृजन संभव है ।

पी-एच० डी० करो !

किन्तु शोध और सृजन में कितना विरोध है, यह शोध करते हुए ही जाना । इस दौरान भी अपने भीतर के साहित्यकार की छटपटाहट को झेला और उसे समझाया—बस थोड़े ही अर्से की बात है, सब ठीक हो जाएगा ।

यूनिवर्सिटी के गरिमा-मण्डित रूप की वास्तविकता जानने में देर नहीं लगी । राजनीति विवेक को कैसे अन्धा करती है, यहीं जाना । डील-डौल में बड़ा दिखने वाला अध्यापक यदि अपना ढोल पीटते हुए कहने लगे कि वह बहुत बड़ा 'एकेडेमिक' है तो राजनीतिक कारणों से कई बार यूनिवर्सिटी यह तर्क भी मान सकती है। उसे प्रोफेसर भी बना सकती है। दूर से दिखने वाले विद्वानों का असली रूप देखकर लगा कि मैं कितने भ्रम में था ! 'इमेज प्रोजेक्ट' करने के चक्कर में ये प्रोफेसरान कितने अदना हो जाते हैं ! !

अदना तो मैं खुद भी हूं जो किसी संगत भूमिका की तलाश में ही अब तक भटक रहा हूं । अपनी लड़ाई लड़ता हुआ उस बड़ी लड़ाई में शामिल नहीं हो सका जो रहमत धोबिन, द्रौपदी जमादारिन, हुक्मी भड़भूंजे, नत्थू नौकर, वल्ली नाई और पंखा-कुली की है—हर उस आदमी की जिसकी आकांक्षाएं विवशता-पूर्ण स्थितियों से टकराती हैं उस आदमी की जो जिंदगी के विस्तार से दोस्ती कर इसे पहले से वेहतर बनाने की भूमिएा में अभी तक अदना माना जा रहा है ।

यहां तक पहुंचकर अनेक सवाल और जवाब घुल-मिलकर मेरी पहचान को धुंधला देते हैं ।

मैं कौन हूं ?

एक टीचर ?

शायद हूं ।

एक कहानीकार ?
शायद हूँ। शायद नहीं।
एक नाटक-निर्देशक, एक रंग-कर्मी ?
शायद नहीं, शायद हूँ, शायद नहीं।
अपने को एक कोड़ा मारता हूँ।
इस शायद-शायद के चक्कर को छोड़ो, असल बात बताओ ?
असल बात—
एक आम आदमी हूँ
जिंदगी को बेहतर बनाने के लिए जिन्दगी के विराट चेहरे की पहचान करना चाहता हूँ,
पहचान करवाना चाहता हूँ।

और रेशमा के लोक-गीत
मुझे अपनी मिट्टी पर नंगे पाँव
चल सकने का बल देते हैं।

सिद्धार्थ से पूछूँगा

"बीस-तीस घरों का छोटा-सा मुहल्ला और साल भर में सात-सात मौतें ! ! समझ नहीं पा रही, ऐसा क्यों हो रहा है, मेरे आस-पास।" सुमेधा का चेहरा मुरझाया हुआ था; दायें कंधे पर सिर झुकाया हुआ था; डूबती आवाज थी; तीखी जिज्ञासा। वह फिर बोली, "बताइए सर, बताइए, लगता है, मौत मेरा घेराव कर रही है ! बार-बार मुझे अपने घर-परिवार की उन मौतों की याद आ जाती है, जिन्होंने मुझे भीतर तक तोड़ा था। बहुत डर गई हूँ ! रूह मेरी काँप रही है।"

बात उसकी सुन ली, लेकिन मैं चुप था। चुप्पी इसलिए भी थी, क्योंकि उसके सवाल का मेरे पास कोई जवाब नहीं था। चुप्पी इसलिए भी थी, क्योंकि ठीक इसी तरह के अनेक सवाल मेरे मन में भी थे। मुझे भी परेशान कर रहे थे ! ··· लौटा था कल शाम रोहतक से, परिजनों, आत्मीयों की कथा-व्यथा सुनकर; देखकर उनको तकलीफों से जूझते, मन भरा-भरा था। उदास था। सवालों से घिरा हुआ।

असल में, पाकिस्तान बनने पर हमारे कस्बे के अधिकांश लोग रोहतक में बसे हैं। इसलिए रोहतक जाने का बहाना ढूंढ़ता हूँ। भले ही कुछ घंटों के लिए रोहतक आऊँ। मन होता है, बन्धु-बान्धवों, दूर-दराज के सभी परिचितों से मिलूँ। उनकी सुनूँ। उनके घर जाऊँ। बड़े-बूढ़ों से बतियाऊँ। अपनी उस मिट्टी की गंध पाऊँ, जिससे घिर कर मेरे जिस्म का पोर-पोर जड़ों की तरह महसूस करता है। शायद इसीलिए रोहतक आकर, दूर-दराज के सभी परिचितों के बीच जाकर, जैसे अपनी जड़ों की तलाश करता हूँ···जड़ों को टटोलता हूँ ! ! नये सिरे से अपनी पहचान बनाता हूँ ! ! !

सुमेधा ने अपने मुहल्ले की आज की मौत की बात जब आगे बढ़ाई, उस समय रोहतक में सुनी अपने परिजनों की दुख-गाथाओं से मन भारी और उदास था।

सुमेधा बोली, देखिये सर, गुरमीत सिंह, जो सारे मुहल्ले का मीत था, अपनी माँ को पी० जी० आई० दाखिल करवाकर लौट रहा था मोटर साइकिल पर। कब किस ट्रक, बस या अन्य किसी चौपहिया वाहन की रफ्तार ने, उस बेबस

दोपहिये वाले सवार को सड़क के किनारे गिराया और भाग निकला। बाद में किसी अजनबी की फोन—कॉल से खबर मिली। पूरे मुहल्ले के सभी लोगों ने भाग-दौड़कर जो कुछ बन पड़ा किया। किन्तु सब बेकार। गुरमीत सिंह डिक्लेयर्ड डेड!! …और यह सातवीं अरथी मुहल्ले के बीचों बीच से उठी है। एक के बाद एक मृत शरीर का सामने से गुजरना…" और मुझे याद आई एक मृत शरीर के साथ चण्डीगढ़ से रोहतक की, पाँच घंटे की यात्रा।

अपनी नौकरी के सिलसिले में जिन दिनों साल भर रोहतक रहा था, उन दिनों के अपने अन्तरंग मित्र सुभाष नन्दवानी की याद आई। याद आई उसकी भटकन की—कैसे, विश्वविद्यालयों में विभागों की अनियमित-अनिश्चित प्रोमोशन नीति से सताया आशंकित, आतंकित, कभी यहाँ, कभी वहाँ, प्रोफेसरशिप के लिए प्रार्थना पत्र भरा करता था…और एक दिन प्रोफेसरशिप के लिए भटकता नन्दवानी विश्वविद्यालय छोड़कर प्रशासकों को पढ़ाने के लिए 'हीपा' में प्रोफेसर बनकर पहुँचा। प्रोफेसरशिप तो पा ली थी, किन्तु चैन खो गया; नौकरी चण्डीगढ़ में परिवार रोहतक। महीने में चार बार आना और जाना। कुल हासिल थी थकान और थकान : भीतर ही भीतर परेशान और परेशान!! एक ओर था प्रोफेसरशिप का ऊँचा पद, प्रशासकों में आदर और सम्मान; दूसरी ओर बच्चों तथा पत्नी के साहचर्य की मिठास; माँ की छाया में जीना! इनमें से किस को स्वीकार करे। माँ रोहतक का जद्दी मकान नहीं छोड़ना चाहती। पत्नी को चण्डीगढ़ नौकरी नहीं मिल सकती। बच्चों को लेकर विदेश चला जाय। एक बहुत अच्छी ऑफर थी उसके पास। किन्तु नन्दवानी, बूढ़ी माँ का इकलौता बेटा—माँ को कहाँ छोड़े? माँ को कैसे छोड़े? जीवन ने उस पर जो दायित्व डाला है, उससे मुँह मोड़ ले!

प्रश्नों से घिरा नन्दवानी समझ न पाया।
ठीक और गलत का अन्तर!!!
लौट जाए पहली पोस्ट पर
घर और बच्चों के सुख की खातिर!
झूठा मान-अपमान छोड़ दे!!

शुक्रवार को घर जब जाता, घर सारा त्योहार मनाता। सोमवार दफ्तर में आता, सोमवार वह बहुत उदास! यात्रा की अवधि में सोचें और भयानक रूप धारतीं। अनसुलझी सोचों में उलझा सोमवार दफ्तर जब आया नन्दवानी को घबराहट और बेचैनी थी।

दिल डूबा-डूबा सा जाता!
समझ न पाया, यह सब क्या है?
कुर्सी पर बैठे-बैठे दिल की धड़कन बन्द हो गई!

अपने इस दोस्त के मृत शरीर के साथ रोहतक तक की इस यात्रा को मैं भूल नहीं पाता। उस यात्रा के अनचीन्हे चित्र मेरे अन्तर्मन की अँधेरी गुफाओं में इतने गहरे खुदे हैं कि कभी मिट नहीं पाएँगे। पर यह भी नहीं चाहता कि रोशनी की कोई किरण वहाँ पहुँचे और उन्हें देखे।

यह मेरा निजी दुख है, बिल्कुल निजी। सिद्धार्थ की तरह मैं इस दुख के माध्यम से मानव के कल्याण की राह नहीं खोजना चाहता। अपने इस निजी दुख के कारण ही हर बार रोहतक आकर, अपने इस मित्र के परिवार से मिलकर, उसके बच्चों को ढेर सारा प्यार देकर अन्तर्मन की गुफाओं में बने चित्रों को टटोलता हुआ—आकार देती उत्कीर्ण रेखाओं को मिटाने का प्रयत्न करता हूँ। पर न जाने क्यों, हर बार उन्हें मिलने पर रेखाएँ मद्धम नहीं होतीं, चित्रों के आकार बदल देती हैं। दुख की रंगत बदल जाती है : पत्नी की खोखली यांत्रिकता, बच्चों की आँखों में भटक ! पूछने पर उसका बताना : वैसे सब ठीक है, वैसे सब ठीक है, सुबह दुपहर और रात की रोटी भी चल रही है। नौकरी भी चल रही है। बच्चों की पढ़ाई भी चल रही है। परन्तु मुझे लगता है जैसे कुछ रुक गया है, जैसे कुछ जम गया है। समझ नहीं आता, गति कैसे आएगी। मुझे ध्यान आता है नन्दवानी की ऊँची महत्त्वाकांक्षाओं का, घर-परिवार के लिए दुनिया की सब सुख-सुविधाओं को जुटाने की बेचैनी का···और अब देखता हूँ उसकी पत्नी शारदा का जिन्दगी चलाने के लिए संघर्ष। और इस संघर्ष में घर की हवा सहमकर कोने में दुबकी हुई है। इस सहमी हवा की सिसकियाँ जवान होती बेटी शेफाली की आँखों में झाँकने से सुनाई देती हैं; दसवीं की छात्रा शालिनी की समझदारी में सुनाई देती हैं; बेटे अनुराग की अल्हड़ता में सुनाई देती हैं। इस सहमी हुई हवा में गति कब आएगी, जमाव कब पिघलेगा—समझ नहीं पाता।

सुमेधा मेरी ओर देखकर फिर बोली, "सर, आप चुप क्यों हैं ? सोच क्या रहे हैं ? पिछले पांच मिनट से बस इसी इंतजार में हूँ कि आप कुछ बताएँगे, हमेशा की तरह कोई राह सुझाएँगे। जबकि यह भी सच है कि आत्मा परमात्मा में मेरा विश्वास नहीं, पुनर्जन्म में मेरी आस्था नहीं !"

···विश्वास और आस्था, विशु और आशू प्रणय के दौरान प्रेम सागर और अन्नपूर्णा ने यही तो नाम दिए थे अपने बच्चों को; प्रणय, जो अनेक बाधाओं को लाँघकर बना था एक घर ! प्रेमसागर अन्नपूर्णा का घर !! एक ही क्लास के दोनों ये छात्र प्रकृति से बिल्कुल अलग-थलग थे, किन्तु फिर भी दोनों ही मुझे प्यारे थे। प्रेमसागर स्वाभिमानी था, अन्नपूर्णा विनीत; प्रेमसागर शास्त्र की तरह शुष्क और आत्मपूर्ण रचना की तरह तरल और तरंगित। मैं कभी सोच भी नहीं सकता था कि दोनों प्रणय के बन्धन में बँधकर साथी और सहभागी बन जाएँगे।

शायद प्रकृति का यह नियम भूल गया था कि विपरीत और विलोम में आकर्षण हुआ करता है। शास्त्र और रचना भी एक दूसरे के पूरक हैं···और मैंने दोनों को मन से अपनाया।

दोनों ने मिलकर घर को बसाया। निम्न-मध्य वर्ग की कैसी यह भूख थी! दुड़की की दौड़ से प्रेमसागर भागा जल्दी से जल्दी पाने की होड़ में, एक पर एक सब चीजें वह लाया। उस भागमभाग में तेजी ही तेजी थी। तेजी कुछ अपने में, तेजी कुछ बाहर भी। तेजी थी जिन्दगी की बहती रफ्तार में।

परिणति तेजी की आज की रफ्तार। परिणति की आकस्मिक घटनाएँ। गाड़ी टकराने की, रेल से उतरने की, हवा में धमाकों की। ये सब दुर्घटनाएँ मात्र एक खबर होती हैं, अखबार के कोनों में सहमी और दुबकी। ऐसी ही एक दुर्घटना में प्रेमसागर और अन्नपूर्णा का घर सहम गया। ट्रक के साथ कार का हैड-ओन कौलीयन। कार की सवारियों का तत्क्षण देहान्त! अब, घर का सामान था और थे दो बच्चे—आस्था विश्वास, आशू और विशू—अकेले! ये बच्चे दादी-दादा, बुआ-फूफा की लाड़ भरी सुरक्षा में पल रहे हैं।

रोहतक में इनसे भी मिलकर आया था आज!
आस्था की आँखों में पारे की थिरकन!
विशू भी खोज रहा खोया विश्वास।
घर है भरा भरा, परदों फर्नीचर से,
फ्रिज और टी० वी० से!
भीतर का खालीपन कौन भर पाएगा?
वक्त, शायद वक्त ही भरेगा!!

सुमेधा के शब्दों ने सोच की तार को बीच में ही तोड़ा, "बोलिये सर, चुप हैं क्यों आज इतने! इतने उदास क्यों? समझ नहीं पाती मैं!"

चुप हूँ मैं फिर भी। एक टक सुमेधा के चेहरे की ओर देखता हूँ। बोल नहीं पाता कुछ भी। रोहतक में देखकर आया हूँ सपनों की तंग-संकरी गलियों में कूड़े के ढेर पर पलते एक सपने को। एक नहीं, तीन हैं—तीन-तीन बेटियाँ मरहूम जगदीश की।

जगत का ईश वह जगदीश
यही उसका नाम था।
नाम के अनुरूप कुछ करने की कामना
कुछ बनने की कामना
जगत का सब कुछ पाने की कामना
कामना ही कामना!

चुस्ती चालाकी से···सबको हराना···सफलता का एक मात्र राज···इसे

मानना ! झूठे दिखावे को साधन बनाना। असलीयत नकार कर सपनों में जाना। असल और सपने में फर्क जब बढ़ता है, झूठा दिखावा जब परत-परत खुलता है, उस समय आदमी हर मिनट मरता है। बार बार मरता है। वैसे तो जीता है, चलता और फिरता है। भीतर से मरता है, मरता ही जाता है। भीतरी तनाव को झेल नहीं पाता। झूठ की गाँठ खोल नहीं पाता और एक दिन वह··· जगत का ईश यह जगत छोड़ जाता है।

जगदीश की मौत को सात बरस बीत गए हैं। किन्तु मौत की छाया आज भी उस घर पर मण्डराती है। जब भी जाता हूँ, मैं बात करता हूँ बबली, कामना और सपना की पढ़ाई की। उनके भविष्य की। किन्तु उस घर के सब लोग— बात करते हैं सिर्फ जगदीश की मौत की। बात किसी की हो, कोई भी हो, खत्म इस सम पर होती है—जगदीश की मौत से बरपा होने वाली कयामत पर।

सात बरस बीत गए जगदीश की मौत को। मौत के इस दुख को घर के सब लोग जिंदा क्यों रख रहे हैं। कैसे समझाऊँ कि मौत की परछाइं से जल्दी ही मुक्त होना चाहिए। मौत की परछाई से जीवन मुरझाने लगता है। गंगा की धारा में अस्थियाँ शायद इसीलिए बहाई जाती हैं, जिससे समय की धारा में दुख को बहाने की युक्ति मिल सके ! समझ नहीं पाता कि दुख के बहाने की यह युक्ति इन्हें कैसे बताऊँ ! समझ नहीं पाता मैं, कि काल के भूत से उस भूतकाल से, आज के जीवन को कैसे बचाऊँ मैं।

जीवन की धारा में
धारा की गति में
गति और प्रगति में
कैसे ले आऊँ मैं
समझ नहीं पाता हूँ !!!

सुमेधा हैरानी के साथ मेरी ओर देख रही थी। उसे लगता था जैसे अब कुछ बोलूंगा। जब काफी समय चुपचाप मुँह नीचा किए बैठा रहा। मुझे झकझोरते हुए सुमेधा बोली, "बोलिए सर, बोलिए, चुप्पी की समाधि को तोड़िये, कुछ बताइए।"

"क्या बताऊँ, बोलूं क्या, समझ नहीं पाता हूं ! देखो सुमेधा ! दुखों का अन्त नहीं। दुखों का पार नहीं। दुखों को झेलते ही बूढ़ा हुआ हूँ। रोगों से नाता बरसों का मेरा। मौत को भी देखा है बहुत ही करीब से। कैसी संवेदना, बुद्ध नहीं बन पाया। कैसे सिद्धार्थ ने ढूंढ़ी थी राह, जान नहीं पाया। जान नहीं पाया, दुखों के बीच कैसे चलता है जीवन : दुखों के बीच कैसे पलता है जीवन ?

देखो सुमेधा,

इतना ही जान पाया
मृत्यु से भयानक है मौत की छाया में पलता हुआ जीवन
साधु-संत कहते हैं—
मृत्यु तो सत्य है, सबसे बड़ा सत्य है,
टलती नहीं, टली नहीं,
इसको स्वीकार लें।
मौत की छाया से जीवन को मुक्त करें !
बात करें जीवन की,
जीवन के रंगों की
जीवन के स्पन्दन की।

आओ,
उठो,
चलें—
सड़क और राहों पर
सूखे हैं पत्ते
पत्तों के ढेर हैं !
आज नहीं तो कल
इनकी होली जलेगी !
पेड़ और डालों पर फूट रही कोंपलें
कल नहीं तो परसों, खिल उठेंगी।
धरती मनाएगी जीवन का उत्सव !
देखो सुमेधा
जीवन है सुन्दर
उसमें है गति
गति ही चिरंतन
गति सबसे बड़ा सच है।
गति के सच को मन में बसा लें !
धारा की गति में दुख को बहा दें !

देखो सुमेधा
धरती के ऊपर
फैला आकाश है
आकाश असीम है

उड़ान है सीमा
सीमा हमारी है
सीमा स्वीकारें
और फिर
अपने पंखों को फैला दें
राहों की खोज में
अपनी-अपनी राहों की
अपनी-अपनी खोज में !
वैसे,
सिद्धार्थ से पूछूंगा ।

स्मृति वन

इस बार तुम्हें मिलकर मंजुला, उस रॉकी बीच पर अकेले बिताई शाम की बहुत याद आई, जहाँ चट्टानों से टकराती लहरों को देखने विशेष रूप से गया था। वहाँ समुद्र की गर्जन-तर्जन ने मेरे समूचे अस्तित्व को घेर लिया था। निर्बाध मैं, दूर खड़ा, समुद्र की उस दहाड़ती गर्जन को शरीर के पोर-पोर से अनुभव कर रहा था। उसकी उर्जस्विता से मन ही मन आतंकित और चट्टानों से टकराकर उठती-बिछलती लहरों से युक्त उस सागर मुद्रा पर मुग्ध भी।

मुग्ध ही तो हूँ तुम पर।

वर्षों से मुग्ध हूँ।

इन पिछले सालों में अनेक स्थितियों में कई तरह से तुम्हें तरंगित होते देखा है; कभी वीथियों की मंथरता, कभी उत्ताल तरंगों की सी ओजस्विता, कभी झंझा का सा बिखराव और कभी चट्टानों से टकराने की जूझन !

इस तरह कई बार तुम्हें,
दिल्ली के महानगर में महासागर बनते
देखा है ! एक विशाल लहराता समुद्र ! !
···और इस बार तुम्हें मिलकर
उस ऋषि की बहुत याद आयी
जो सारा समुद्र पी गया था !

वैसा ऋषि तो मैं नहीं बन पाया। किन्तु सोचता हूँ, कैसा है हमारा संबंध ? शायद यह तुम्हारी उन्मुक्तता और उसके मुग्ध प्रशंसक का सम्बन्ध है। शायद यह अभिरुचियों की समानता और संसर्ग की स्निग्धता का सम्बन्ध है। शायद यह विचारों के आदान-प्रदान के दौरान, दो व्यक्तियों के गुथ जाने वाला सम्बन्ध है। ऐसा है यह सम्बन्ध कि तुम्हारे साथ बिताया एक-एक क्षण, मेरे अनुभव जगत की कला-वीथियों में बेश-कीमती मौलिक चित्रों की तरह से हमेशा के लिए सजा रहता है। इतना ही नही उनकी सँभाल मैं अपने पूरे वजूद के साथ करता हूँ। सच तो यह है कि अब तो इस सम्बन्ध को कोई नाम देने की जरूरत भी नहीं महसूस होती।

मंजुला, तुम भी अपने मन में न जाने क्या सोचती होगी। छूना तो एक ओर रहा, कभी इतना भी नहीं कहा, तुम सुन्दर लगती हो, क्या तुम्हें भी लगता है मैंने कभी नहीं कहा ? पर न जाने क्यों, आज लग रहा है कि यह बात मैंने लाखों बार तुमसे कही है, कई-कई तरह से कही है। जब भी निगाह उठाकर तुम्हें देखा है, यही तो कहा है। यह बात दूसरी है जब भी तुम्हारीं आँखों में झाँका वहाँ मुझे एक दीवार नजर आई। पत्थर की एक मजबूत दीवार जिसे लांघना, जिसके पार देखना संभव नहीं था।

इस बार तुम्हारा नया उपन्यास पढ़कर यह दीवार तुम्हारी आत्मरक्षा के लिए कितनी जरूरी थी, समझ में आया। समझ में यह भी आया कि इतनी ढेर सारी योजनाओं के बीच हमेशा अपने आपको क्यों उलझाए रखती थीं : एक खत्म हो दूसरी···दूसरी खत्म हो तीसरी···और कई बार एक साथ ढेर सारी योजनाएँ ! समझ में आया कि क्यों तुम चाहती थी कि दिल्ली की सभी पत्र-पत्रिकाओं में तुम्हारी इण्टरव्यू छपें; दूरदर्शन से तुम पर विशेष कार्यक्रम हों; महिला साहित्यकारों की संस्था तुम पर विशेष गोष्ठी करे !···और निरन्तर अपने आपको इतना व्यस्त रखना कि शरीर थक कर चूर हो जाए; चेतना पर सिर्फ थकान का अहसास रहे। थकान···और थकान···और और थकान।

समझ में आया कि थकान की इस स्थिति में भी तुम किसी भी तरह की पार्टी पर जाने के लिए क्यों राजी हो जाती थीं। इन पार्टियों में हर उस दोस्ती को क्यों स्वीकार कर लेती थीं, जहाँ कोई जरा-सा भी हाथ बढ़ाए। अच्छी तरह से जानते हुए भी कि यौन-बुभुक्षा ऊपरी सभ्यता के पड़ौस में दुबक कर बैठी रहती है मौके की तलाश में। तुम्हारा इतने अलग-अलग प्रकृति के लोगों के बीच घिरे रहना भी समझ में आ रहा है : तुम्हारा एक के बाद दूसरे, दूसरे के बाद तीसरे ··और फिर चौथे, पाँचवें व्यक्ति से सम्बन्ध बनाते चलना समझ में आ रहा है ! क्योंकि हर सम्बन्ध को तुम सतही रखना चाहती थीं। इससे पहले कि कोई भीतर झाँके, तुम आगे बढ़ जाया करती थीं। तुम्हारे व्यक्तित्व के वे सब पहलू समझ में आ रहे हैं जिनके कारण तुम्हारे चुम्बकीय आकर्षण के आगे बेबस महसूस करते हुए तथा इतने नजदीक होते हुए भी अपने आपको तुमसे कोसों दूर महसूस करता रहा हूँ।

समझ में यह भी आ रहा है कि क्यों ऐसी स्थितियों में जब हम एक-दूसरे से कट कर हमेशा के लिए अलग हो सकते थे—दूर न जाकर और नजदीक आ गये।

इस तरह नजदीक आने का कारण आज साफ समझ में आ रहा है : तुमने

अपने परिवार के दु:ख के लावे को अन्तर्मन की गहरी गुफाओं में छिपाए रखा और मैं हमेशा इस लावे के अहसास के साथ, इस लावे तक पहुँचने की जिज्ञासा के साथ—तुम्हारे निकट बना रहा।

तुम्हारे निकट शायद इसलिए भी बना रहा, क्योंकि तुम जिस आग के दरिया को पार कर आई थीं, उस आग की रोशनी की झलक मैंने कई बार तुम्हारे चेहरे पर देखी थी। वही रोशनी हमारे सम्बन्ध को गहरा बनाती गई।

परन्तु यह रोशनी कहाँ से आती है ? अरसे तक एक उलझन बनी रही। किन्तु इस बार, तब समझ में आया जब तुम्हारे इस नये उपन्यास 'जंगल के दर्द' की घटनाएँ परत-दर-परत खुलने लगीं। यह समझ में तब आया जब इस उपन्यास को पढ़ते हुए मन ही मन निश्चय हो गया कि यह तुम्हारे परिवार की सच्ची कहानी है। उस उपन्यास से पता चला कि व्यथा के किन बीहड़ जंगलों में से गुजरते हुए यहाँ पहुंची हो : और यह उपन्यास उस जंगल के दर्द का इतिहास है। व्यथा का वह जंगल जहाँ बालपन का अंतरंग साथी भाई चित्रकार बनने के सपनों को चुपचाप दफना कर, मध्यवर्गीय परिवार की महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए इंजीनियर बनने की पढ़ाई करने लगे। संवेदनशील प्रवृत्ति वाला यह भाई दिन-रात की कड़ी मेहनत के बावजूद दिन ब दिन ढलान के पत्थर की तरह लुड़कने लगे। प्रतियोगिताओं की गलाकाट क्रूरताओं में पिसता, देखते-देखते ही पगला जाए; और कोई कुछ न कर सके। सारे परिवार पर मनहूसियत छा जाए और उस मनहूसियत का हिस्सा बनकर आपको जीना पड़े—दिनों, महीनों, बरसों !! बड़ी बहन की अचानक मौत की सूचना मिले और बाद में पता चले कि लालची पति ने उसकी हत्या की थी। माँ, दोनों बच्चों के गम में घुलती-घुलती टी० बी० की मरीज हो जाए। पिता, बाकी बचे परिवार की सुरक्षा के लिए जिन्दगी भर की जमा पूंजी लगाकर मकान बनाते-बनाते—पूरे परिवार को निराश्रित छोड़ चल बसे।

·· और उसके बाद !

परिवार में सबसे अधिक असहाय एवं लाचार शायद तुम थीं। अधूरी शिक्षा। तुम्हारे विवाह के हर प्रयत्न में असफलता। क्योंकि परिवार में पागलपन और और टी० बी० की बीमारी का इतिहास था। पगलाए भाई और बीमार माँ की टहल सेवा करते हुए तुमने जाना कि कैसे सहानुभूति दिखाने के लिए निरन्तर घर में आने वाले सगे सम्बन्धी—चाचा, मामा, कज़न तुम्हारे जवान होते शरीर को निगाहों से मसल-मसल कर रस लेते थे। तुम्हारे लिए रिश्ते लाने का बहाना कर निरन्तर मौके की तलाश में कि कब तुम्हें अकेला पाएं और झपटें : तुमने

अनुभव किया कि शरमाते हुए शरीर के बचाव और छिपाने से मर्द शेर की तरह झपटते हैं । इसके विपरीत जरा-सा बोल्ड होकर शरीर को उघाड़ कर दिखावा करने से वही मर्द भीगी बिल्ली की तरह मण्डराते हैं ! ···

···जंगल की इस यात्रा में क्या खोया और क्या पाया, इसका हिसाब-किताब करना मुश्किल है किन्तु यह बात तुम्हारी समझ में अच्छी तरह से आ गई—औरत का शरीर आदमी की सबसे बड़ी कमजोरी है ! इस समझ ने तुम्हारी जीवन-पद्धति को ही बदल दिया । भागम-भाग वाली जिन्दगी तथा स्वभाव में अर्जित वैचित्र्य द्वारा अपनी पारिवारिक पीड़ा के लावे को दफनाए रखना शायद तुम्हारी जरूरत थी । शायद तुम्हारा कवच था । नहीं चाहती थी कि आस-पास कोई भी इसे जाने ।

आज मेरी समझ में आया है कि हर समुद्र में विष का एक घड़ा भरा रहता है और उसे कतरा-दर-कतरा हर आदमी को स्वयं ही हीना होता है और स्वयं पचाना भी । यह उपन्यास लेखन, समुद्र मंथन भी था, विष पान भी और विष को पचाना भी ।

विष पीने और पचाने की यातना को जानता हूँ···इसलिए तुम्हारे इस दर्द का अनुमान लगा सकता हूँ । इसीलिए तुम्हारा उपन्यास पढ़ने के बाद मेरा मन हुआ कि तुम्हें बाहों में भर कर ढेर सारा प्यार करूँ कि तुम्हारे भीतर की सारी पीड़ा और दर्द को सोख लूं ।—और तुम उससे मुक्त हो जाओ । न जाने क्यों अचानक मुझे याद आ रही है अपने कस्बे के पास उस इलाके की जहाँ हीर रांझे के एकान्तिक प्रेम ने रूप लिया था । वहाँ हीर के मकबरे की छत नहीं है । गुम्बद की जगह खाली छोड़ी गई है । कबर के पास खड़े होकर आप ऊपर देखो तो आसमान दिखाई देता है । ऐसा क्यों किया गया, नहीं जानना ? किन्तु वहाँ के रहने वालों का कहना है कि ऊपर से खुले होने पर भी वर्षा की एक भी बूंद कबर पर नहीं पड़ती, भले ही चारों ओर फर्श गीला होता है । वहाँ के लोगों का यह कहना कि रांझा उस वर्षा को स्वयं अपने ऊपर झेलता है—आज समझ रहा हूँ ! प्रणय की अनन्यता में यह सम्भव है !

मंजुला,

क्या कभी तुम्हारे साथ ऐसा हुआ है कि कोई दूसरा तुम्हारे पूरे वजूद पर, तुम्हारे टोटल बोइग पर छा जाए—तुम अपने में अपने को नहीं, उसे महसूस करो । अपना अन्तस खाली कर दो और दूसरे से अपना मानस भर लो ।

प्रणय की अनन्यता में शायद यही होता है । तुम्हारे सम्पर्क में आने के बाद मैंने इस अनुभव को जिया है ।

सामने दिखने वाले तुम्हारे व्यक्तित्व के सभी पक्षों को मुग्ध भाव से देखा

है और प्यार से अन्तस में उसे सहेजा है। और मुझे अपने मित्र की एक कविता याद आ रही है :

"तुम अन्तर्गमा नदी हो
मेरी नस नस में प्रवाहित
एक अकथ आनन्द
एक सिहरन
···मैं जानता हूँ
तुम कब पहाड़ के सीने उछली कूदी हो
कहाँ तुमने द्वीप बनाए
किन मैदानों को सींचा
किस मरुस्थल में खोई हो !"

बरसों तक तुम मरुस्थल में भटकती रही और मुझे पता ही न चला। काश कि मुझे पहले पता चलता कि पत्थर की वह दीवार जो तुम्हारी आँखों में कई बार देखी है उसके पीछे यही दु:ख की गठरी पड़ी थी। पर एक शिकायत भी है। बरसों का हमारा सम्बन्ध और मेरे भीतर की गर्माहट ने तुम्हें कभी प्रेरित नहीं किया कि तुम अपने दु:ख की गठरी मेरे सामने खोल सको।

उपन्यास पढ़ने के बाद जब यह शिकायत तुमसे की, तुमने झट से कहा; "यह गठरी आप ही के आगे तो खोली है—और आप ही ने तो मुक्त किया है इस पीड़ा से !"

"वह कैसे ?"

"आपकी रचनाओं की बेबाकी ही तो प्रेरणा भूमि है इस उपन्यास की !"

"कुछ समझ नहीं पा रहा !"

"आप ही तो कहा करते थे, साहित्यकार का व्यक्तिगत कुछ नहीं होता ! जिन्दगी को नयी समझ देने के लिए उसे अपना सारा सुख-दु:ख बाँट लेना चाहिए ! मैंने, बस, यही किया है !···और देखिये, अब मुक्त हूँ," यह कहते हुए तुम मेरी बांहों में आ गईं। पिछले दस सालों से तुम्हारी अनुरक्ति से अपने शरीर के पोर-पोर को सींचा था : आज तुम्हारी छुवन की यह अनुभूति मेरे अंतरंग में कोणार्क मन्दिर में देखे प्रणयी युगलों की अनेक छवियों को आकार दे रही है—जिन छवियों में शरीर का संगीत आज भी सुरक्षित है।···और मैंने जाना, कितना अन्तर होता है, प्रणय की इस छुवन में ! यह छुवन पुरुष को परमपुरुष बना देती है और प्रणय को प्रणव !

प्यार करते हुए जब मैंने तुम्हारी आँखों में झाँका तो मुझे आज वहाँ दीवार नहीं, आसमान दिखाई दिया। दूर तक फैला हुआ आसमान।

धीरे से फुसफुसाते हुए कानों के पास मुँह ले जाते हुए कहा, "जानती हो इस समय हम कहाँ हैं?"

"हूँ! लेक के पास, पेड़ों की छाया में!"

"इसे अब स्मृति-वन कहते हैं!"

"मतलब?"

"यहाँ लोग अपने किसी प्रियजन की स्मृति में पेड़ लगाते हैं!"

"अच्छा!"

"जान-बूझकर आज तक यहाँ नहीं आया था, सोचा था, जब तुम आओगी, पहली बार तुम्हारे साथ ही स्मृति-वन जाऊँगा! आज अचानक सोचा 'जंगल के दर्द' की बात स्मृति-वन में करेंगे!"

"जंगल का दर्द तो अब पीछे रह गया।" तुमने बहुत सहज रूप में कहा। स्मृति-वन के कुंज में चलते हुए सिर्फ सूखे पत्तों के चरमराने की आवाज सुनाई दे रही थी या डालियों पर चिड़ियों के चहचहाने की।

हम चुपचाप साथ चल रहे थे।

"मंजु।"

"हूँ!"

"क्या सोच रही हो?"

"सोच कुछ भी नहीं रही, बस, बहुत अच्छा लग रहा है। स्मृति वीथी पर कदम रखना। कुछ स्मृतियों से मुक्त होना। नयी स्मृतियाँ सँजोना···और चुपचाप चलना।"

सड़क और पगडंडियों को छोड़कर पेड़ों के आसपास कितना ही समय इसी तरह चलते रहे!

कुछ देर बाद
मैंने कहा :
"देखो मंजुला
कइ बार मेरा मन होता है
कि मैं एक पेड़ बन जाऊँ
जो शाखाओं की बाहें फैलाए

तेज हवाओं के स्वरों में
आकाश से बतियाए !"

"और तब
मैं एक पाखी बन जाऊँगी
जब चाहूँ उस पेड़ पर आ बैठूंगी ?"

प्रेम रंग गाढ़ा

बहुत हैरानी के साथ उसके चेहरे की ओर देखता ही रह गया, जब पत्नी ने बड़े निश्चय के साथ कहा, "अब और कोई रास्ता नहीं, अकेले ही दिल्ली हो आती हूँ।" ऐनक के शीशों में से झांकती आंखों में संकल्प की चमक थी। खुले सफेद बालों को वह जूड़े के रूप में गाँठ दे रही थी। होठों में कसावट थी, जिससे सामने का टूटा हुआ दाँत नजर नहीं आ रहा था।

"दिल्ली और अकेले! नॉट पासीबल, और साठ साल की इस उमर में, जबकि पहले कभी गयी नहीं।"

"वह तो ठीक है, पर अब तो मुझे जाना है। कुक्कू कैंसर का ऑपरेशन करवाने बंबई जा रहा है और उसे सिर्फ दो दिन के लिए दिल्ली रुकना है···और इन्हीं दिनों बेटे रवि की परीक्षाएँ हैं···हम में से किसी एक का वहाँ होना भी जरूरी है!···सो अकेले ही जाना पड़ेगा!"

"मेरी तो बिल्कुल समझ में नहीं आ रहा, अकेले कैसे जाओगी, हमारी शादी को चालीस साल हो गए हैं, कभी अकेले गयी हो! जब भी दोनों साथ नहीं जा सके···तुम गयी ही नहीं! भतीजे सुभाष की शादी पर नहीं गयीं! अपने फूफा की मौत पर नहीं गयीं···और ऐसे कितने ही मौके हैं, जिनके उलाहने झेलती हो!"

"वह बात दूसरी थी, परन्तु कुक्कू तो मुझे बेटे रवि की तरह प्यारा है! उसे ऑपरेशन से पहले जरूर मिलना चाहती हूँ, किसी भी हालत में!"

"वह तो ठीक है, पर···"

"पर किंतु, कुछ भी नहीं, मुझे जाना ही है!"

"ठीक है, कोई रास्ता निकालते हैं।"

"रास्ता क्या?"

"यही दो-चार मिलने वालों से पूछते हैं, शायद उन्हीं दिनों कोई दिल्ली जाने वाला मिल जाए!"

"हाँ, यह ठीक है, कोशिश कर देखिए···पर जाना मुझे जरूर है!"

"ठीक है, ठीक है।"

टेलीफोन घुमाते हुए कितने ही परिचितों से पूछा। कोई नहीं जा रहा था। ध्यान आया पंचकूला में मिस्टर चावला ने अभी-अभी इंपोर्ट-एक्सपोर्ट का काम शुरू किया है। फोन अभी लगा नहीं! वे अक्सर दिल्ली जाते हैं। उनसे पंचकूला जाकर ही पता करना पड़ेगा! वहाँ जाना भी बेकार रहा।

"आप बेकार में इतनी फिकर कर रहे हैं, शताब्दी में मेरी बुकिंग करवा दीजिए, स्टेशन से स्कूटर लेकर चली जाऊँगी राजेन्द्रनगर!"

"वैसे तो ठीक ही है, तुम्हारी उमर की पढ़ी-लिखी औरतें दुनिया का चक्कर भी लगा आती हैं···पर अकेले कभी गयी नहीं! खैर, भरा जी को टेलीफोन कर दूंगा, वे तुम्हें स्टेशन पर मिल जाएंगे।"

"उन्हें किसलिए तकलीफ देंगे। वे आप से भी पाँच साल बड़े हैं, उन्हें इस उमर में गाड़ी चलाने में तकलीफ होती होगी!"

"कोई बात नहीं, मेरी तसल्ली हो जाएगी।"

शताब्दी की टिकट लेकर घर पहुँचा ही था कि विमला की हिदायतें शुरू हो गयीं, "देखिए, सुबह वक्त से दूध जरूर ले लीजिएगा!"

"ले लूंगा, तुम चिंता मत करो!"

"दूध तो लेंगे, पर दही कैसे जमायेंगे···अच्छा, आज रात आपको समझा दूंगी!"

"ठीक है।"

"तीन-चार तरकारियाँ बना जाऊँगी, बस उन्हें गर्म करवा लें!"

"वैसे ठीक है, पर हरीश भले ही उमर में छोटा है, पर दाल वगैरह तो बना लेता है, गुजर हो जाएगी।"

"दाल बनवा लें, पर सब्जियाँ मैं बना जाऊँगी! गर्मियों में दूध बहुत जल्दी खराब हो जाता है, उसे औटाकर जल्दी ही फ्रिज में रख लिया कीजिएगा!"

"ठीक है।"

"कूलर को सुबह भरवा लीजिएगा, हरीश कई बार भूल जाता है!···रवि सुबह ठंडा दूध पीता है, औटने से पहले उसके लिए दूध रख लीजिएगा!"

"अच्छा।"

"जमादारनी जब सफाई के लिए आए तो हरीश को कहिए, साथ-साथ रहे!···सारा घर अच्छी करह साफ करे!"

"हो जाएगा, सब हो जाएगा!"

"अरे हाँ नाश्ते के साथ विटामिन बी लेना भूलिएगा नहीं, अक्सर आप भूल जाते हैं!"

"दो दिन की तो बात है, इतनी चिंता क्यों कर रही हो! हरीश के साथ आई विल मेनेज एवरीथिंग!"

और जब मैं उसे स्टेशन छोड़ने गया तो घर से चलने से पहले पूछा, "टिकट पर्स में रख ली है!"

पर्स खोलकर उसने देखा और बोली, "हाँ!"

स्टेशन जाते हुए रास्ते में निगाह उसके चेहरे की ओर गयी, "अरे दाँत तो तुमने पहना नहीं!" सामने के टूटे दाँत का छोटा-सा डेंचर वह घर नहीं पहनती, किंतु बाहर जाते ही जरूर डाल लेती है।

"पहना नहीं, किंतु पर्स में रख लिया है!"

"आँखों की दवाई?"

"रख ली है।"

"पैसे सँभाल लिए हैं!"

"हाँ पर्स में हैं।"

"और पैसों की जरूरत हो, चेक बुक लेती जाओ, भरा जी से ले लेना!"

"काफी हैं।"

"किसी कारण भरा जी स्टेशन न पहुंच सकें, तो क्या करोगी!"

"टेलीफोन कर दूंगी!"

"टेलीफोन नंबर नोट कर लिया है?"

"कर लिया है!"

"कहाँ?"

"डायरी में।"

"डायरी कहाँ रखी है, चैक कर लो!"

"पर्स में है!"

"भरा जी को मैंने फोन पर तुम्हारा बोगी नंबर, सीट नंबर सब बता दिया है। अपने कंपार्टमेंट के सामने ही रहना, इधर-उधर नहीं जाना!"

"ठीक, आप बिल्कुल फिकर न करें!'

"अपने पर्स का ध्यान रखना!"

"देखिए, इसी तरह बगल में दबाये रखूंगी!"

"लौटने का जब भी प्रोग्राम बने, भरा जी को कहकर टिकट मँगवा लेना!"

"सब कर लूंगी, पर आप ठीक से नाश्ता करके यूनिवर्सिटी जाना!"

"गाड़ी से उतरते समय टाँगों में तकलीफ हो तो किसी सवारी से हेल्प ले लेना!"

"आर्थराइट्स की यही तो मुसीबत है!"

"कोई ऐसी मुसीबत नहीं । सफर में लोग एक-दूसरे की बहुत मदद करते हैं । लो, गाड़ी आ गयी और यह रही तुम्हारी बोगी नंबर पाँच । तुम्हारा सीट नंबर 62, यह पीछे के दरवाजे के पास होगा ।"

उस दरवाजे के पास बहुत भीड़ नहीं थी । बोला, "साथ का डंडा पकड़ कर चढ़ो इंडिपेंडेंटली··· शाबास, अब मेरी तसल्ली हो गयी, इसी तरह उतर जाना !"

"आप भी कमाल करते हो, इतनी बड़ी थोड़े हो गयी हूँ कि गाड़ी नहीं चढ़ पाऊँगी !"

"चलो, चलो, अस्सी, पचहत्तर···और यह रही तुम्हारी सीट !"

"टिकट चैक कर लो, पर्स में है न !"

"अभी तो चैक की थी । आप कहते हैं तो फिर देख लेती हूँ ।" निकालकर दिखाते हुए, "यह रही टिकट और अब पर्स में रख ली ! ठीक !"

"वहाँ पहुँचकर फोन कर देना ।"

"जरूर कर दूंगी ।"

"बेस्ट ऑफ जर्नी !"

"थैंक यू, अब आप चलें, चेयर कार में पता ही नहीं चलता कब गाड़ी चल पड़ती है ! खड़े-खड़े मेरी ओर क्या देख रहे हैं ?"

"सोच रहा था अगर तुम दाँत डाल लेती तो···"

"इतनी उमर हो गयी, अभी तक···" विमला के चेहरे पर एक मीठी-सी मुस्कराहट फैल गयी, "आप जाते क्यों नहीं ?"

"जा रहा हूँ" और मैं बाहर निकलने वाले दरवाजे की ओर चल पड़ा । दो चार कदम ही रखे थे कि पीछे से आवाज आयी, "जी, जरा सुनो !"

"कहो," मैं मुड़कर उसके पास आया ।

मुस्कान फिकरमंद रेखाओं में बदल चुकी थी और बोली, "अपना ध्यान रखिएगा !"

धूप में चटकता काँच

पिछले तीन सालों से वह सोच रही है कि अपना फ्लैट बदल लेगी। पर बड़े शहर की यही तो मुसीबत है। नौकरी के हिसाब से नजदीक पड़ती कॉलोनी में मनपसन्द फ्लैट मिलने का तो सवाल ही नहीं पैदा होता; जो मिले उसी से एडजस्ट करना होता है। तो मिसेज वर्मा सोचती—अधिक समय तो आदमी को घर में ही रहना होता है, इसलिए मकान जरूर आराम-देह होना चाहिए। यह भी कोई फ्लैट है, टॉप फ्लोर पर इस कदर बिखरे हुए कमरे हैं कि गर्मियों में खूब तपते हैं और सर्दियों में ठण्डी हवा से भी कोई बचाव नहीं। बरसात में किचन या बाथरूम छाता लेकर जाना पड़ता है। जब भी वे फ्लैट बदलने की सोचते हैं—अचानक किराये इतने बढ़ जाते हैं कि इस फ्लैट की तकलीफों से समझौता करना अधिक आसान लगता है। बड़ी-बड़ी कठिनाइयों से तो उसने समझौता कर लिया है। किन्तु बैड-रूम में पूरब दिशा में खुलती काँच की इतनी बड़ी खिड़की क्यों रखी गयी है, वह कभी नहीं समझ पायी। सुबह पाँच बजे ही इतनी रोशनी कमरे में भर जाती है कि सोना मुश्किल हो जाता है। इस खिड़की पर चाहे कितने मोटे परदे लगाओ, धूप का ग्लेयर तो आ ही जाता है। शाम को परदे खोलो तो सामने टी० वी० एरियल से भरी मकानों की छतें किसी शैतान की आंतों की तरह भयानक लगती हैं। नीचे निगाह जाने पर सड़क पर रेंगती बसों, भागती कारों और दौड़ते स्कूटरों को देखकर उसे बम्बई में देखे उस वेक्यूम-क्लीनर की बात याद आती है जिसकी ड्रिफ्ट में विवश मक्खियां-मच्छर और मकड़ियां खिचे चले जाते हैं। खिड़की खोलो तो सड़क के शोर से सारा फ्लैट भर जाता है। पर अब, धीरे-धीरे इन सबकी आदी हो गयी है। ठीक उसी तरह से जैसे टाँग कट जाने पर कोई बैसाखियों का आदी हो जाता है।

पर इतनी भी जल्दी क्या थी कि एम० एस-सी० के प्रेक्टीकल भी खत्म नहीं हुए थे कि शादी कर दी। उसने दबी आवाज में पी-एच० डी० की बात कही थी। पर उसकी कौन सुनता है? पापा का कहना था, अच्छा मैच मिल रहा है, अब मुझे देर नहीं करनी; हजार रुपया कमाता है और देखने में अच्छा-खासा है। पर दिल्ली में एक हजार क्या होते हैं, यह नहीं सोचा था।

इसीलिए शादी के तीन दिन बाद उसके पति ने एक एप्लीकेशन-फॉर्म भरवाया था। साथ यह भी कहा था, जब तक उसे नौकरी नहीं मिलेगी वे बच्चा प्लैन नहीं करेंगे। यह सारी बात कितनी आसानी से कह दी, वह देखती ही रह गयी। दिल्ली पहुँचते ही उसके लिए नौकरी की तलाश जोरों से शुरू हो गयी। कभी इससे मिल कभी उससे, कभी इसकी सिफारिश, कभी उसकी, कभी इस बाबू के साले के भतीजे की तलाश में निकलना कि जिससे इंटरव्यू कॉल आ जाये; कभी उससे कहना कि अपने परिचित मित्र से बात करे जो सेक्रेटरी के पड़ोसी को जानता है। पूसा इंस्टीच्यूट की इस नौकरी के लिए राजेन्द्र वर्मा ने क्या कुछ नहीं किया! 'गे-लॉर्ड' की एक ड्रिंक पार्टी में छः सौ का बिल दिया और साथ यह भी समझा दिया कि यदि डॉ० वासवानी तीन-चार पैग लगाकर गालों को थपथपा दें या कमर में हाथ डाल लें तो माइंड न करना। सब-कुछ उसी के हाथ में है। उस दिन कितना बुरा लगा था! वह कितना रोयी थी! राजे ने बड़े प्यार से समझाया था, यह तो कोई बात ही नहीं है। बड़ी सोसाइटी में तो यह बिलकुल मामूली-सी बात है। हमारे सेक्रेटेरियट में क्या कुछ होता है—सुनो तो दंग रह जाओ। एक छोटी-सी प्रमोशन के लिए लोग क्या कुछ करते हैं! वैसे वासवानी आदमी बुरा नहीं। जिस सोसाइटी में वे घूमते हैं, वहाँ इसे बुरा नहीं मानते। इसीलिए समझाया था। और तुम्हारी पी-एच० डी० वाली इच्छा सिर्फ इसी नौकरी से पूरी हो सकती है। विमला ने ठण्डे मन से सोचा—वाकई इस नौकरी के साथ कितना कुछ जुड़ा हुआ है—फ्लैट बदलना, पी-एच० डी० होना और—और यह सोचते हुए मन ही मन लजा गयी कि इस नौकरी के साथ और शर्त भी तो जुड़ी है! अगर पिछले साल उसे यह नौकरी मिल जाती तो उसे वह सारी तकलीफ क्यों भोगनी पड़ती और आज शायद वह बच्चा तीन-चार महीने का होता! कितना कहा था, हर जीव अपनी किस्मत साथ लाता है। पर माने ही नहीं। बोले—इस हालत में इंटरव्यू कैसे दोगी और नौकरी पाने में भाग-दौड़ कितनी है! साथ यह भी समझाया था, कि वह तो अब लीगल है, कानून ने इजाजत दे दी है। इसका मन पर बोझ भी नहीं होना चाहिए। इसमें पाप-पुण्य कुछ नहीं होता। यह सब तो बॉयलोजिकल है। आदमी को अपनी सुविधा देखनी चाहिए। जिन्दगी को एक योजना के अनुसार चलाना चाहिए।

इसलिए नौकरी मिलने की उसे बेहद खुशी हुई थी। पर यह क्या हुआ, अभी नौकरी करते हुए तीन महीने भी नहीं बीते कि कुछ दिनों से रोज सुबह इंस्टीच्यूट जाने का ध्यान आते ही विमला वर्मा का मन होता है कि छुट्टी ले ले। हमेशा मन उखड़ा-उखड़ा क्यों रहता है? लगता है, जैसे असल काम छोड़कर बेकार भटक रही है। एम० एस-सी० करने का मतलब यह तो नहीं कि उसे जरूर नौकरी करनी ही है। यह भी कोई जिन्दगी है! सुबह उठते ही खाना बनाने में

डा० सहगल ने चाय की प्याली को होंठों से लगाते हुए कहा, "आई रियली फील लकी, इन शेयरिंग लैब विद यू !"

"इट्स माई प्रिवलिज !" मिसेज वर्मा स्वयं हैरान हो रही थी, यह सब कैसे कह गयी ! रुककर फिर बोली, "असल फायदा तो मुझे होगा। आप के सहयोग के बिना तो पी-एच० डी० की प्राब्लम को फारमूलेट ही न कर पाती।"

"यह बात नहीं, इरादा पक्का हो तो सब-कुछ अपने-आप फारमूलेट हो जाता है। साइंस में रिसर्च इतनी मैकेनिकल है कि बहुत जल्दी आपको महसूस होगा कि प्राब्लम पर वक्त लगाओ तो नये रिजल्ट खुद-ब-खुद, आटोमेटिकली निकलते आते हैं। टेबल-दर-टेबल और स्लाइड्ज-पर-स्लाइड्ज बनती जाती हैं, बाकी तो सिर्फ मेहनत ही है !···बट, माई गेन इज ग्रेटर, कम्पनी आफ ए प्रेटी लेडी फार सेवन अवर्ज रेगूलरली·· इन सेक्लूजन !" डा० सहगल की आँखों में एक विनोदात्मक मुसकान थी और निगाह मिसेज वर्मा के चेहरे पर।

मिसेज वर्मा इस तरह की बात की बिलकुल उम्मीद नहीं कर रही थी। अपनी कुर्सी से उठी और लैब-टेबल के पास जाकर खड़ी हो गयी।

अचानक डॉ० सहगल को लगा जैसे कुछ गलती हो गयी। झट से बोले, "प्लीज डोंट मिस-अंडरस्टेंड मी ! मैं तो एक दूसरी बात कहने जा रहा था।··· किन्तु अब नहीं कहूँगा।" यह कहकर डॉ० सहगल भी अपनी लैबटेबल पर चले गये। भले ही मिसेज वर्मा घबरा गयी थी, किन्तु उसे 'प्रेटी लेडी' का कम्पलीमेंट अच्छा भी बहुत लगा था। डॉ० सहगल को वह नाराज भी नहीं करना चाहती थी। कल डाइरेक्टर ने साफ ही कह दिया था, वे उसे डॉ० सहगल के साथ अटैच करने जा रहे हैं। डा० सहगल को शीघ्र ही हायर पोस्ट और बड़ी लैब मिलने की सम्भावना भी थी। उसी क्षण मिसेज वर्मा के मन में कौंधा, इस बीच उसे डॉ० सहगल के साथ ऐसे रिलेशन रखने चाहिए जिससे काम जल्दी और आसानी से हो जाए। उसके पति की भी यही राय थी। किसी हालत में डॉ० सहगल के साथ बिगाड़नी नहीं है।

अपने-आपको व्यवस्थित कर मिसेज वर्मा बोली, "आप क्या बात कह रहे थे—कहिये न ?"

"कोई खास बात नहीं—असल में कई बार भूल जाता हूँ कि मैं भारत में हूँ···जहाँ दिए गए हर कम्पलीमेंट के साथ आदमी की नीयत नापी जाती है।"

"यह बात नहीं। वैसे फर्क तो है ही—यहाँ पर हम लोग कम्पलीमेंट की आदी नहीं और न ही इतनी खुली बातों की···।"

"पर क्या यह बातें ठीक नहीं लगतीं ? लुकाव-छिपाव और लज्जा-शर्म से तो खुले में जिन्दगी की सच्चाइयों को स्वीकार करना कहीं अच्छा है !"

"अच्छा तो जरूर होगा, पर मैंने कहा न, आदत नहीं है।···पर आप बताइए न, क्या कह रहे थे ?"

"रहने दीजिए ··आप खुद ही तो कह रही हैं, खुली बात सुनने की आदत नहीं।"

"बात जैसी भी है—कहिये !"

"आज नहीं, फिर कभी," डॉ० सहगल ने अपने काम में व्यस्त होते हुए कहा।

एक दिन भारतीय और पश्चिमी नारी के अन्तर की बात चल रही थी। डॉ० सहगल बता रहे थे, "भारत में हम प्रत्येक औरत में माँ, बहिन, मौसी या बुआ खोजते हैं। जबकि यूरोप में माँ और बहिन में भी औरत की खोज करते हैं। वहाँ हर दूसरी औरत सिर्फ औरत है—और वह जानती है कि सिर्फ औरत बनकर ही वह आदमी के साथ सम्बन्ध बना सकती है। इसीलिए शायद औरतें अपनी देह-यष्टि का विशेष ध्यान रखती हैं। सेक्स-अपील के सम्बन्ध में बड़ी कॉन्शस हैं।"

पिछले तीन महीनों से साथ रहने के कारण मिसेज वर्मा अब डॉ० सहगल की खुली बातें सुनने की आदी हो गयी थी।

"आपके साथ रोज इतने घंटे साथ रहते हुए एक नया अनुभव पाया है। बिना चूमे-चाटे एक औरत को इतनी अच्छी तरह जाना जा सकता है—यह अनुभव बिलकुल नया है और सुखद भी।"

मिसेज वर्मा को भी अपने पति के अलावा किसी और आदमी से इतनी बातें करने का अवसर पहले नहीं मिला था। डॉ० सहगल की खुली-खुली बातें सुनने का अनुभव उसके लिए भी उतना ही नया और सुखद था। उसे डॉ० सहगल की घनी भौंहों के नीचे चश्मे में से झाँकती चमकती मेधावी आँखों की ओर देखना भला लगता। उसे यह जानकर आश्चर्य होता कि यह आदमी बिना होंठों को हिलाये सिर्फ आँखों से मुस्करा कैसे लेता है ! उसे उनका आँखों से बहुत कुछ कहना, कंधे झटकना, तनिक परेशान होने पर बालों में उँगलियाँ फेरना और बात करते हुए पाइप से उलझे रहना बहुत अच्छा लगता है। कई बार जब किसी समस्या से जूझ रहे होते तो ऐनक उतारकर आँखें मूंदे छत की ओर चेहरा किये घंटों बैठे रहते। उनकी तर्क-क्षमता और नयी सूझ-बूझ की सारी इंस्टीच्यूट में कुछ ही दिनों में धाक जम गयी थी।

पिछले कुछ दिनों से डॉ० सहगल बहुत व्यस्त और उलझे-उलझे रहते हैं। उलझन काम की है या कोई और, पर मिसेज वर्मा सोचती—कितना अच्छा हो यदि वह उनकी मदद कर सके ! कितना अजीब है, अब यदि डॉ० सहगल किसी

दिन तीन-चार घंटों के लिए डायरेक्टर या किसी अन्य अधिकारी के साथ रहने की वजह से अपनी सीट पर न रह पाएँ तो मिसेज वर्मा मन-ही-मन हर क्षण उनकी प्रतीक्षा करती रहती है। एक दिन ईरान से आये कृषि विभाग के अधिकारियों के साथ लगभग सारा दिन ही लग गया। चार बजे के लगभग अपनी सीट पर पहुँचे और ढेर सारा काम सामने था। पाँच बजे जब मिसेज वर्मा जाने लगी तो रोककर बोले, "रुकें, आज मैं आपको ड्रॉप करता आऊँगा।"

"आप बिजी हैं, ऐसे ही तकलीफ करेंगे, मैं चली जाऊँगी।"

"तकलीफ की बात नहीं, इफ यू डोंट माइंड, आई वुड लाइक टू स्पेंड सम टाइम विद यू—एण्ड ड्रॉप यू !" और डॉ० सहगल मिसेज वर्मा के साथ गेट से बाहर निकल आये।

"असल में, आई एम फीलिंग डिप्रेस्पड। लगता है, जैसे जिन्दगी तेजी से बीतती जा रही है और मैंने कुछ एचीव नहीं किया··· और यह भी कि इस इन्स्टीच्यूट में अब अधिक समय नहीं रह सकूँगा। यहाँ रिसर्च-वर्क कम है और फाइल-वर्क ज्यादा। इस-उसको इंस्टीच्यूट दिखाना, मुझे कतई पसन्द नहीं चाहे वह ईरान का एजूकेशन मिनिस्टर ही क्यों न हो। माई जॉब इज रिसर्च !"

"पर मैंने सुना है कि अगले महीने, आपकी प्रोमोशन हो रही है और आपके लिए एक खास जॉब क्रिएट की गयी है।"

"इस सबसे क्या होता है, तनखा चाहे जितनी दे दें, यदि जॉब-सेटिसफेक्शन नहीं होगा तो कोई कब तक नौकरी कर सकता है ?"

"इस सम्बन्ध में मैं ज्यादा तो कुछ नहीं कह सकती, पर इतना जरूर जानती हूँ, यहाँ मनपसन्द नौकरी मिलना तो दूसरी बात है—सिर्फ नौकरी मिलना ही इतना कठिन है कि आप अन्दाजा नहीं लगा सकते।" मिसेज वर्मा ने डॉ० सहगल की ओर देखा और बात को बदलते हुए बोली, "आपकी बात नहीं कहती, क्योंकि आप इतने वेल-क्वालिफाइड हैं।" रुक रुककर फिर बोली, "किन्तु रिसर्च के लिए इससे अच्छी इन्स्टीच्यूट भारत में और कहाँ मिलेगी ? आपकी यहाँ इज्जत है, यहाँ के माहौल को अपने अनुकूल बना लें।"

"पर इस ब्यूरोक्रेसी का क्या करें, हर मामूली-से काम के लिए दस-दस चिट्ठियाँ लिखनी पड़ती हैं। मैंने तो आज रिजाइन करने की सोच ली थी···।" और कनाट प्लेस की ओर गाड़ी मोड़कर डॉ० सहगल बोले, "कैन वी सिट एट सम प्लेस ?"

"साढ़े छः तक घर पहुँचा दें तो आध-पौन घंटा बैठा जा सकता है !"

गेलॉर्ड में बैठते हुए डॉ० सहगल ने कहा, "वैसे मुझे नौकरी की बेहद जरूरत भी है, घर-परिवार के सभी लोग मेरी ओर देखते हैं। बहिन-भाइयों को साउंड फुटिंग देने के लिए मेरी यह नौकरी बहुत मदद कर सकती है।···अमेरिका में

मुझे एक बहुत अच्छी ऑफर है, पर अब यदि फिर से अमेरिका चला गया तो घर से पूरी तरह कट जाऊंगा।" डॉ० सहगल ने अपने घर की ढेर सारी बातें बतायीं। डॉ० सहगल का इस तरह बात करना मिसेज वर्मा के लिए बिलकुल दूसरे क़िस्म का अनुभव था। उनके मन में फिल्म में देखा वह चित्र कौंध गया जहाँ तेनसिंह और हिलेरी रस्से के साथ एक-दूसरे से बंधे, मिलकर बर्फीली चोटियों की ऊंचाई पार कर रहे थे। डॉ० सहगल भी उसकी राय की इस तरह कदर करते हैं, यह अहसास उसके अन्दर की मिसेज वर्मा को विमला वर्मा बना रहा था। और विमला वर्मा बोली, "आपको नौकरी नहीं छोड़नी चाहिए, निरन्तर कोशिश करने से यह इंस्टीच्यूट सही मायने में रिसर्च इंस्टीच्यूट बन ही जाएगी।"

"तो अपना रेजिगनेशन फाड़ दूं ?"

"मेरा तो यही ख्याल है," एक अजीब आत्मविश्वास के साथ मिसेज वर्मा ने यह बात कही। उसे अपने कहने के इस ढंग पर स्वयं ही हैरानी हो रही थी। शादी के साढ़े तीन साल बाद वह अपने भीतर की विमला को नये सिरे से पहचान रही थी। यह विमला सोच भी सकती है, राय भी दे सकती है और किसी महत्त्वपूर्ण फैसले की हिस्सेदार भी हो सकती है !

सोफे पर रखे मिसेज वर्मा के हाथ को अपने हाथों में लेते हुए डॉ० सहगल बोले, "यू ऑर ए रियल डियर फ्रेंड, मिसेज वर्मा।"

मिसेज वर्मा को डॉ० सहगल का यह स्पर्श भला लगा। उसने दूसरे हाथ से उनके हाथों को थाम लिया और उनके चेहरे की ओर लाड़-भरी सहलाती निगाह से देखती रही। डॉ० सहगल के चेहरे पर अनुग्रह का भाव था। परेशानी दूर हो चुकी थी। फैसला लिया जा चुका था।

"मिसेज वर्मा, आई एम रियली इनडैब्टिड···।"

"आप मुझे मिसेज विमला कहा कीजिए—विमला !!" और अचानक मिसेज वर्मा की निगाह घड़ी पर गयी, "सवा छः बज गए हैं, मुझे घर तक पहुंचा आइए।"

"ठीक।" डॉ० सहगल बिल देकर बाहर आ गए।

आज पहली बार डॉ० सहगल के साथ वाली सीट पर बैठते हुए मिसेज वर्मा को बराबरी का अहसास हो रहा था। कैसे धीरे-धीरे घर में वह सिर्फ मिस्टर वर्मा की इच्छाओं-आकांक्षाओं को पूर्ण करने का मात्र साधन बनती जा रही थी। तरकारी बनाने से रात तक के सभी काम उनकी इच्छा से होते। यहाँ तक कि नौकरी भी उसने उनका मन रखने के लिए ही की थी। साढ़े तीन सालों में ही वह विमला से मिसेज वर्मा बन गई थी। शायद अच्छी गृहस्थी का राज भी यही है। मन-ही-मन उसने सोचा, घर में चाहे वह 'मिसेज वर्मा' है' पर नौकरी में तो उसे 'विमला' होकर ही जीना है।

मिसेज वर्मा कार से उतरीं और ऊपर निगाह गयी। मिस्टर वर्मा को बालकनी में खड़ा देखकर बड़ी तेजी से वह सीढ़ियाँ चढ़ने लगी। बड़े उतावलेपन के साथ उसने बताया कि कैसे उसने डॉ० सहगल को आज त्याग-पत्र देने से रोका। सारी घटना सुना दी। सिर्फ गेलॉर्ड जाने वाली बात नहीं बताई। अक्सर डॉ० सहगल के साथ हुई सभी बातें वह अपने पति के साथ शेयर कर लेती। किन्तु कुछ दिनों से वह महसूस कर रही थी कि ऐसा नहीं कर पाती। आज तो गेलॉर्ड वाली एक पूरी घटना नहीं बताई। शायद यह सब जानकर उन्हें अच्छा नहीं लगेगा, शायद तकलीफ महसूस करें। किस तरह से लेंगे, इस सारी बात को, वह नहीं जानती। इसलिए न बताना ही ठीक है। कुछ अनुभव ऐसे भी तो हो सकते हैं जो बिलकुल निजी हों, जिन्हें किसी के साथ शेयर न किया जाए, जिह्वा की छुअन के बिना मन में ही रसे-बसे रहें। जिनके सम्बन्ध में बात न की जाए, जिन्हें मन में झाँककर कभी-कभार देख लिया जाए। देख लिया जाए और आँखों में बसा लिया जाए। और आँखों के रास्ते से उन्हें फिर से मन में सँजो लिया जाए।

अक्सर विमला घर पहुँचते ही मिसेज वर्मा बन जाती और घर के काम में जुट जाती। आज आते ही पूरब दिशा की ओर खुलने वाली खिड़की पर गहरे नीले रंग के ब्लाइंड्ज लगाने लगी। साथ-साथ सोचती जा रही थी, डॉ० सहगल को ऐसा नहीं करना चाहिए था। आफ्टर ऑल आई एम ए मैरिड लेडी। ये ब्लाइंड्ज लग जाएँगे तो सूरज की जरा भी ग्लेयर नहीं पड़ेगी। इनके साथ रोज ही तो सब-कुछ होता है, पर आज की तो बात ही दूसरी थी, कितना टेंडर एक्सपिरियेंस था।

"आते ही काम में जुट गयी, क्या बात है ?"

"आपकी तबीयत ठीक नहीं, इसीलिए ब्लाइंड्ज लायी थी, सोचा पहले लगा दूँ," मिसेज वर्मा तार में परदे पिरोते हुई बोली। मिस्टर वर्मा की ओर नहीं देख पायी। ब्लाइंड लगाकर, मन को कड़ा कर मिस्टर वर्मा की चारपाई के पास आई और बोली, "कल शायद कन्फरमेशन का कागज मिल जाए। डॉ० सहगल ने रिपोर्ट भेज दी है।"

बीमारी की हालत में भी मिस्टर वर्मा उत्सुकतावश बिस्तर पर बैठ गए, "सच, दैट इज फाइन !" और उन्होंने मिसेज वर्मा को अपनी ओर खींचते हुए चूम लिया। बाँहों में भींचकर साथ लेटाते हुए कान में बोले, "नाऊ वी कैन प्लैन ए चाइल्ड।"

मिसेज वर्मा को आज यह सब अच्छा नहीं लग रहा था। बिस्तर से उठते हुए बोली, "अभी दूसरे शीशे पर ब्लाइंड लगाना है।" खिड़की के पास पहुँचकर जैसे

ही उसने परदा हटाकर एक ओर किया कि आश्चर्यचकित रह गयी, बोली, "यह काँच कब चटक गया ?"

"धूप इतनी पड़ती है, गर्मी से चटक गया होगा ?"

मिसेज वर्मा का हाथ वहीं थम गया।

मन को झटका और बोली, "अब तो और भी जरूरी है ब्लाइंड्ज लगाना।"

हामी भरते हुए मिस्टर वर्मा ने करवट बदली।

'नहीं नहीं—आज नहीं, आज तुम्हारी तबीयत भी ठीक नहीं।" विमला ने कहा।

"उससे क्या फर्क पढ़ता है ··!"

'पर मैं सोचती थी, पहले पी-एच० डी० हो जाती, फिर···।" मिसेज विमला अनुनय के स्वर में बोली।

मिस्टर वर्मा की जकड़न बढ़ती जा रही थी। विमला मिसेज वर्मा बन चुकी थी।

मिसेज वर्मा तैयार होकर जाने लगी तो देखा मिस्टर वर्मा अभी तक सो रहे हैं।

ब्लाइंड्ज लग जाने से कमरा पूरी तरह अँधेरा था।

माथा छुआ, थोड़ा बुखार था।

मिस्टर वर्मा की आँख खुली और बोले, "आज छुट्टी नहीं ले सकतीं ? मुझे लगता है, आज तबीयत कुछ ज्यादा ही खराब है !"

"दवा खाने से सब ठीक हो जाएगा। दलिया और खिचड़ी बना चली हूँ, सुबह दलिया और दुपहर को खिचड़ी खा लेना। बताए अनुसार कैप्स्यूल भी जरूर ले लेना—मिस नहीं करना। शाम तक तबीयत ठीक हो जाएगी।" मिसेज वर्मा ने पलंग पर बैठकर बालों को सहलाते हुए कहा और उठ खड़ी हुई।

"क्या आज कोई बहुत जरूरी काम है ?" मिस्टर वर्मा की आँखों में विवश और असहाय व्यक्ति की-सी कातरता थी।

"हाँ, बहुत जरूरी, एक एक्सपेरिमेंट शुरू किया है, बिना जाए बात नहीं बनेगी !" यह कहकर बिना मिस्टर वर्मा की ओर देखे सेंडल की खट-खट की आवाज में जैसे कुछ रौंदती हुई बाहर निकल आई ! उसे लगा, जैसे भीतर-ही-भीतर एक गुंगियाता हुआ मुँह बड़ी ऊँची आवाज दे रहा है—सिर्फ हरकत करते हुए होंठ दिखाई दे रहे हैं; आवाज नहीं सुनाई दे रही।

हाँफते हुए बस-स्टाप पर पहुंचकर मिसेज वर्मा सोच रही थी कि आखिर वह कौन-सा जरूरी काम था जिसके लिए वह आज इंस्टीच्यूट जा रही है।

और देखते ही देखते, ठीक सामने एक कार स्कूटर से टकरा गई।

एक दुर्घटना हो गई थी।

एक और द्रोपदी

"साहब जी ?"

किताब पर से निगाह उठाकर देखा, सामने द्रोपदी खड़ी थी। गहरा काला रंग, मैले-कुचैले, कपड़े, हलके घुंघराले बाल और हाथ में झाड़ू।

द्रोपदी हमारी जमादारिन का नाम है, पर उसे नाम से पुकारना मुझे अच्छा लगता है।

'मेरी बच्ची सात दिनों से बीमार है, अस्पताल की दवा से कोई फर्क नहीं पड़ा···पाँच रुपये मिल जाएँ तो किसी डॉक्टर को दिखा दूँ।"

"बीबीजी से माँग ले।"

"बीबीजी बाजार गयी हैं और नाराज भी बहुत हैं, आप ही दया करें तो जनम-जनम एहसान न भूलूंगी।"

मुझे बहुत अजीब लगा। उसने यह कैसे सोच लिया है कि बीबीजी को नाराज करके भी मुझे खुश रखा जा सकता है ? मुझे लगा, जैसे द्रोपदी ने मेरी चोरी को पकड़ लिया हो। कई बार उसके फटे-पुराने कमीज से झांकती स्वस्थ देह पर, ढीले-ढाले कुर्ते से झलकती गोलाइयों पर निगाह टिक जाती रही है। लगता है कि द्रोपदी ने मेरी निगाह के स्पर्श को महसूस किया है और मेरी इस कमजोरी को भुनाने आयी है। मैं इसे अनपढ़, गँवार और फूहड़ समझे बैठा था। कई घरों में काम करती है, कई लोगों से वास्ता पड़ता है। घाट-घाट का पानी पिये है। तभी मौका देखकर कि बीबीजी इस समय घर नहीं हैं, साहब के पास आयी है।

"यह लो पाँच रुपये, पर बीमारी के लिए बीबीजी भी मना न करतीं।" मुझे अपने शब्द बड़े अटपटे-से लगे, जैसे रुपये देने के लिए अपने-आपको सफाई दे रहा हूँ। क्योंकि मैं जानता था कि कमला अकसर इस जमादारिन की शिकायत करती है, "मैं तो तंग आ गयी हूँ इस जमादारिन से। जब काम का वक्त होगा इसकी तबीयत खराब हो जाएगी। पाँच सालों में छः बच्चे हो गये हैं और अब सातवाँ भी तैयार है—साल में सात महीने काम करेगी और तनखा उसे चाहिए पूरे बारह महीनों की।"

बात सही है। उसके पेट में सदा बच्चा रहता है। इसीलिए उसके शरीर की

बनावट और रूपरंग महीने-महीने बदलते रहते हैं। कभी हल्दी की तरह पीली, कभी चेहरे पर खिलन, कभी मातृत्व की चमक। फिर भद्दापन, वढ़ा हुआ पेट, बोझ ढोते पाँव, निरन्तर की थकान, कसते और फटते-से वस्त्र। पिछली बार तो कमला से डरकर आठवें-नवें महीने तक आती रही। कई बार मन हुआ कि कमला से कहूँ, 'अब इसे छुट्टी दे दो।' इसीलिए चुप रहा कि अगर उसने हलके से मजाक कर दिया, 'बड़ा दर्द जागा है'—तो शायद मुझे बहुत बुरा लगे। सह न सकूँ।

इस साल भी ऐसा ही हुआ। उसकी छठी बेटी अभी चार महीने की भी नहीं हुई थी कि द्रोपदी का रूप-रंग बदलने लगा। वैसे मैंने देखा है कि बच्चे के जन्म के बाद द्रोपदी की हालत सबसे बुरी होती है। रंग काला पड़ जाता है, छातियाँ ढलकने लगती हैं, चेहरे की हड्डियाँ दीखने लगती हैं। यह स्वाभाविक भी है; गोद में बच्चा, और खुराक का नाम नहीं, और साथ में पाँच-छः घरों की सफाई का काम। इसलिए जब भी अचानक उसका चेहरा चमकने लगता है, मैं समझ जाता हूँ कि अगले बच्चे की तैयारी है। सातवीं बार इस प्रक्रिया की शुरुआत देखकर बड़ा दुःख हुआ था।

एक दिन की बात है कि मैं ड्राइंग रूम में बैठा हुआ अखबार पढ़ रहा था। कमला साथ के कमरे में द्रोपदी से काम करवा रही थी और बीच-बीच में बात भी कर लेती।

कमला कह रही थी, "इस बार ऑपरेशन करवा डाल।"

'मानते ही नहीं, मैंने तो पिछली बार भी कहा था।"

"मानता क्यों नहीं ?"

"क्या बताऊँ बीबीजी, बात करती हूँ तो मारने को दौड़ते हैं।"

"क्या कहता है ?"

"कहना क्या है, हम औरतों की भी कोई जिन्दगी है, दिन-भर मेहनत-मजदूरी और रात को नोंच-खरोंच। कुछ बोलो तो डंडों से मार।"

मैं अखबार बन्द कर उनकी बातें सुनने लगा।

कमला कह रही थी, "मारता भी है ?"

द्रोपदी ने झट से फर्श पर बैठते हुए पीठ से कुर्ता उठाते हुए कहा, "अपने-आप देख लीजिए। पीठ पर नील पड़े हुए थे।

"च्च, च्च, बड़ा जालिम है।···अच्छा, उनसे कहूँगी, जमादार से बात करेंगे।"

"न, न, साहब से मत कहिएगा।" पीठ ढककर बोली, "यह तो फिर भी अच्छे हैं। झुग्गियों में कई मर्द रोज अपनी औरतों को पीटते हैं। मातादीन ने तो अपनी औरत को पीट-पीटकर मार ही डाला।"

जुट जाओ। भागे-भागे नौकरी पर जाओ। थके-टूटे लौटो और फिर रसोई में। पेट-भर कर सोओ और भूख फिर भी जारी। मिस्टर वर्मा अकसर सुझाते रहते हैं, पश्चिम में तो सभी स्त्रियाँ काम करती हैं। किन्तु पूरब दिशा वाली यह खिड़की—इस पर कितने ही परदे डालो, धूप तो झाँक ही लेती है। इसीलिए मन होता है कि नौकरी छोड़-छाड़कर घर में चौका-बर्तन किया जाए और राजे को पास बैठा कर मन से खाना खिलाया जाए—ठीक वैसे ही जैसे माँ पिताजी को खिलाती थी। माँ तो हाथ में पंखा ले लेती थी। उसका सारा ध्यान पिताजी की थाली में रहता। क्या मन से खा रहे हैं, क्या बेमन से; कौन-सी चीज रोज खाना पसन्द करते हैं, कौन-सी कभी-कभी; नमक कितना, मिर्च कितनी, मसाला कितना, मीठा कितना, खटाई कितनी—यह सब कुछ माँ के ध्यान में बसा रहता। पिताजी के चेहरे पर एक अजीब तृप्ति का भाव बना रहता। खाना खाते समय पिताजी की निगाह माँ की ओर जाती तो दोनों के चेहरे पर तृप्ति की जो मुसकान खिल उठती, उस तसवीर को वह आज भी नहीं भुला पाती। और एक वे हैं कि रात को भी ऐसी तृप्ति नहीं, अनेक भय और आशंकाएँ। तो यह सारी भाग-दौड़ किसलिए ??

आज तो वह जरूर कैजुअल-लीव ले लेगी। टेलीफोन करवा देगी।

अभी चार दिन तो हुए नहीं उसने कैजुअल-लीव ली थी। और महीने में एक बार तो जरूर उसे ऐसी छुट्टी लेनी ही पड़ती है; तकलीफ जो बहुत होती है; वह बन्द हुई तो एक दूसरी ही शुरू; सेफ पीरियड जो यही रहता है; इस सबका वह बहुत खयाल रखते हैं। पर इस बात का ध्यान क्यों नहीं रखते कि सुबह मुझे इंस्टीच्यूट जाना होता है ? कई बार उन्हें समझाया है, मुझे यह सिर्फ शनिवार को ही अच्छा लगता है। पर उनका हिसाब ही दूसरा है। सेफ पीरियड हो तो जब मन हुआ हाथ बढ़ाया और खींच लिया। अजीब आदत है। फिर नहीं देखेंगे कि दूसरे का मन है या नहीं ? जरा-सी आनाकानी करो तो हफ्तों नाराज रहेंगे। कई बार बड़े प्यार से समझाया—नौकरी के साथ यह मनमानी नहीं चल सकती। सुबह मान लेंगे, पर रात को न जाने उन्हें क्या हो जाता है !

इसी वजह से विमला वर्मा का आज सारा शरीर टूट रहा है। एक अजीब अलसाई तन्द्रा है। बिस्तर में से उठने को मन नहीं चाहता। जब नौकरी नहीं थी, कितनी मीठी लगती थी यह तन्द्रा ! वह भी कितना ध्यान रखते थे, चाय स्वयं बना लेते, सिर्फ नाश्ता तैयार करने के लिए उठाते; उसके बाद आराम से नहाओ और तैयार होकर खाना बनाओ। कितना मजा था ! और अब ? बिमला सोचने लगी—सुबह काम पर जाना है, इस बात का ध्यान आते ही रात को भी मन अनमना हो जाता है; पूरी तरह से उसे सबको जीना तो क्या, झेलना भी कठिन होता जा रहा है। साथ ही, नौकरी लगने के बाद उनमें भी एक अजीब तबदीली

आयी है। इस दौरान खूब बतियाने लगे हैं। दफ्तर से देश-भर की बातें करेंगे। जबकि वह साँसों की लय में इस निजी सुख को अपने में जज्ब करते हुए किसी शब्द का भी दखल नहीं चाहती—न पहले, न बाद में। पहले स्पर्श की भाषा अच्छी लगती है और बाद में मौन की। इस दौरान उसे कई बार बम्बई में बान्द्रा बाँध में चट्टान से टकराती समुद्र की लहरों की याद आयी। हनीमून के लिए वे बम्बई गये थे। पर आजकल तो यह सब-कुछ जीना थोड़े ही होता है—बस करना मात्र है!! पर यह परिवर्तन तो उसके नौकरी लगने के बाद हुआ है। शायद यह इसलिए कि सारे दिन में यही एक वक्त होता जब पूरी तरह से सुन-सुना सकते हैं। पहले कुछ दिन बुरा लगा था किन्तु अब उसे भी आदत पड़ती जा रही है। अब तो कई बार राजे कुछ सुना रहे होते हैं और वह सो जाती है। उन्हें बुरा लगता है और यह गलत भी कितना है। आखिर आपस में चैन से बात करने का वक्त भी तो यही होता है! खासकर, यदि मेहमान आये हों। दिल्ली में मेहमान तो लगे ही रहते हैं। पहले बहुत फर्क नहीं पड़ता था किन्तु जबसे नौकरी लगी है मेहमानों का आना भी अच्छा नहीं लगता। पापा की चिट्ठी आयी है, शायद वे अगले सप्ताह आयें। तब भी शायद छुट्टी लेनी पड़ेगी।

मिसेज वर्मा बिस्तर से उठी और किचन में आ गयी। चाय के लिए पानी रखा। आलू छीलने लगी। गैस जलायी, दूध चढ़ाया। सोचनी लगी, फ्रिज आ जाएगा तो बहुत आसानी हो जाएगी। इसीलिए तो नौकरी कर रही है। पहले फ्रिज, फिर स्कूटर··नहीं-नहीं, पहले स्कूटर। उसे इंस्टीच्यूट जाना भी तो अच्छा नहीं लगता, क्योंकि उसे बस में जाना पड़ता है। और यह उसे पसन्द नहीं। कहाँ लाजपत नगर और कहाँ पूसा इंस्टीच्यूट—जैसे पूरा एक समुद्र लाँघकर जाना हो।

दफ्तर के समय सारा शहर उमड़ने लगता है: घरों से निकलते लोगों की कतारें, उतावले कदम रखते बेचैन-परेशान चेहरे। पौने नौ, सवा नौ, साढ़े नौ, और पौने दस—जैसे-जैसे दफ्तर का वक्त नजदीक आता, सड़कों पर बसों, कारों, स्कूटरों और मोटर-साइकिलों की रफ्तार में तेजी; भाँति-भाँति के हॉर्न, सड़क की रगड़ से टायरों की आवाज, ब्रेकों की चिंघाड़, सड़कें फूत्कार करते तेज रफ्तार से घिसटने वाले अजगर की नाईं लगती।

इधर बस-स्टॉप पर जैसे-जैसे समय गुजरता, यात्रियों की इन्तजार में गर्माहट—बिना बात के झगड़े, कण्डक्टर से बहस और सरकार को गालियाँ। उतावलेपन से बिलबिलाते इन चेहरों पर नजर आती चिंता की रेखाओं से बनते झुर्रियों के निशान और इन निशानों पर पोता गया कॉसमेटिक; पसीने से बहता पाउडर; सीमाओं को लाँघता लिपस्टिक का फैलाव, बिना फीते बँधे बूट के तस्मे, कानों के पास लगा शेव का साबुन, बिना सँवारे रूखे बाल, नाश्ते का अन्तिम

कौर चबाते और भागते कॉलेज के छात्र—यह है बड़े शहर का जनसमूह ! इसे रोज लाँघना होता है। समुद्र लाँघना भी मुश्किल और किनारे खड़ा होना भी कठिन। इसलिए बस-स्टेंड पर उससे इन्तजार नहीं होता। भरी-भरी बसें आयें और चली जाएँ—आप वहीं-के-वहीं इन्तजार में खड़े हैं—कभी एक पाँव पर जोर डालो, कभी दूसरे पर ! बस में सीट न मिली तो डंडे पर झूलते हुए सारा रास्ता तय करो। धक्का-मुक्की; नौजवान छात्रों का सटकर बदन को छीलते हुए निकलना, मौका मिला और चुटकी भर लेना; टाँगें सटा लेना; कौहनी धँसा देना—पहले-पहल यह सब कितना बुरा लगता था ! बुरा तो अब भी लगता है, पर आदत हो गयी है। पर कई बार जब इस सबको झेलने को मन नहीं होता तो विमला वर्मा का जी चाहता है, छुट्टी ले ले। शहरी विवशता को चुनौती वह अपनी छुट्टी के अधिकार से दे सकती है। बस ! नहीं तो इस जन-समुद्र के सामने वह अपने-आपको निरीह और लाचार-सी महसूस करती है। सब काम उसे यन्त्र की तरह से करना ही है। उसने सुन रखा है कि अमेरिका में कुछ ऐसी सड़कें हैं जिन पर आप सौ किलमीटर प्रति घंटा से कम स्पीड पर गाड़ी चला ही नहीं सकते। स्पीड कम करोगे तो दुर्घटना हो जाएगी। इसलिए चाहे कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों न आयें, मिसेज वर्मा ने सोचा. नौकरी तो उसे करनी ही है। वह पब्लिकेशन ऑफिस में डिप्टी-डाइरेक्टर हैं। डाइरेक्टर बनने में उन्हें कम-से-कम पाँच साल और लगेंगे। जब कि तीन-चार सालों में उसकी अपनी पी-एच० डी० हो जाए तो उसकी तरक्की जल्दी हो सकती है; रिसर्च-फैलो से रिसर्च-ऑफिसर लग जाएगी। दोनों की मिली-जुली तनखा से उनकी सभी आकांक्षाएँ पूरी हो जाएँगीं : फ्लैट भी बदल सकेंगे, टी० वी० ले लेंगे और जरूरत महसूस हुई तो चार-पाँच साल में कार भी ले सकेंगे।

बैड-रूम की यह खिड़की भी खूब है, कहीं से एक तार-सी निकली धूप की पतली लकीर धीधे बिस्तर पर फैल जाती है। मिसेस वर्मा को ध्यान आया कि इन सब आकांक्षाओं की पूर्ति तो हो जाएगी, पर उसकी एक नन्हीं-सी कामना··· उसका ध्यास पलंग के नीचे चिड़िया के मरे हुए बच्चे की तरह मुचड़े रबड़ के टुकड़े की ओर गया। एक अजीब झुरझुरी के साथ उसे उठाकर बाथ-रूम में बहा आयी। इस आकांक्षा की ओर राजे का ध्यान क्यों नहीं जाता ? कई बार जतला चुकी है। पर उन्हें अब धुन लगी हुई है, पहले नौकरी पक्की हो जाए। नौकरी तो पक्की हो जाएगी, पर···उनकी समझ में यह सब क्यों नहीं आता ? यह तो शायद कोई औरत ही समझ सकती है। आलू की दोनों फाँकें छुरी के दायें-बायें गिर गयीं। आज उनका मन कैसा-कैसा हो रहा है।

एक बार फिर मिसेज विमला वर्मा के मन में आया, यदि वह आज छुट्टी ले ले, तो कौन-सा आसमान गिर जाएगा ? बहुत हुआ तो बिना तनखा के हो

जाएगी—नौकरी से तो नहीं निकाल देंगे। अभी न खाना तैयार किया है, न ही नाश्ता, जबकि सवा आठ बज गये हैं। पौने नौ तो उसे बस-स्टैंड पहुंच ही जाना चाहिए।

···अलसायी तन्द्रा और इस तरह की देर तो हर दूसरे-तीसरे दिन हो जाती है, हमेशा तो छुट्टी की नहीं सोचती।

असल बात यह है कि पिछले कुछ दिनों से उसके कमरे में डॉ० विनयकुमार सहगल की सीट और उनकी लैबोरेटरी को शिफ्ट कर दिया गया है। यह अहसास कि आपका उठना-बैठना, चलना-फिराना, पढ़ना-लिखना, यानि कि हर काम कोई देख रहा है···कितना अजीब लगता है! उससे तो काम ही नहीं हो पाता। साथ ही डॉ० सहगल के अतिरिक्त शालीनता के कारण बात-बात पर 'थैंक यू सो मच', 'यू आर वैलकम' या 'माई प्लैजर' कहने पर, उसे सूझता ही नहीं कि क्या उत्तर दे, सो मुसकरा भर देती है। पर वह जानती है कि इस मुसकान में उसकी फूहड़ता अवश्य ज़ाहिर हो जाती होगी।

शायद यही छोटी-सी बात है जिसके कारण वह आज छुट्टी लेने की सोच रही थी। पर इस स्थिति से कब तक बचा जा सकता है? कब तक छुट्टी लेगी? वैसे देखा जाए तो डॉ० सहगल के आने से उसे फायदा-ही-फायदा है। पांच साल अमेरिका लगाकर आये हैं, यूरोप के कई देशों में भी घूम आये हैं। उनकी रिसर्च का विषय भी उसकी इंट्रेस्ट वाली ब्रांच का है। जो भी हो, पर असलियत यह है कि अभी यह पूरी तरह 'एडजस्ट' नहीं कर पायी।

उसी समय मिस्टर वर्मा रसोई में आये और थाली में आलू की कटी फाँकों के सामने चुपचाप बैठी विमला को देखकर बोले, "क्या बात है, ऐसे क्यों बैठी हो?"

विमला ने आँख उठाकर उनकी ओर देखा और क्षण-भर के लिए उनकी ओर ताकती रही। निगाहों में यह आग्रह था कि मेरे मन की बात तुम भाँप जाओ राजे, और कह दो, अपने-आप ही कह दो—मन नहीं है तो इंस्टीच्यूट मत जाओ, आज छुट्टी ले लो!"

"देर हो गयी है, तो इसमें क्या है, स्कूटर पर चली जाना।"

यह सुनते ही न जाने क्यों विमला अपने-आपको काबू में न रख सकी और फूट-फूटकर रोने लगी। मिस्टर वर्मा के लाख पूछने पर कोई जवाब नहीं दिया और वहाँ से उठकर बाथरूम चली गयी। उसका यह सोचना ही गलत था कि वे छुट्टी की बात कहेंगे, क्योंकि अब तो उन्हें अच्छी तरह पहचानने लगी है कि वे बड़े हिसाबी आदमी हैं। वे जानते हैं कि तीन महीने की नौकरी में तीसरी छुट्टी नहीं ली जा सकती। एक अनुभवी कर्मचारी होने के नाते उन्हें यह भी

मालूम है कि नयी-नयी नौकरी में ज्यादा छुट्टियाँ नहीं लेनी चाहिए। इसलिए आज शायद वे खुद स्कूटर पर बैठाकर छोड़ आएँगे।

और ऐसा ही हुआ। थ्री-व्हीलर में बैठे उसका मन फिर से रोने को हुआ, किन्तु मन पर काबू पाकर चुपचाप बैठ गयी। सूनी निगाह से पास से गुजरती बसों, कारों, टैक्सियों, स्कूटर, मोटर-साइकिलों को निहारती हुई भटकते मन को टिकाने का प्रयास करने लगी। कभी पास से गुजरती बस की भीड़ में मन उलझाती, कभी कार में बैठी सुन्दरी के केश-विन्यास में, कभी स्कूटर के पीछे बैठी नव-विवाहिता पत्नी की भंगिमा में और कभी तेज रफ्तार से चलते मोटर-साइकिल की 'जू' की आवाज में! पर मन है कि कहीं टिकता नहीं! सोचा, भागती-दौड़ती इन सवारियों में ही ध्यान रहेगा तो मन टिकेगा कैसे? और उसने आँखें बन्द कर लीं। मिसेज वर्मा ने सोचा, कमरे में डॉ० सहगल के सामने पड़ने से पहले, उसे अपने मन को व्यवस्थित कर ही लेना चाहिए। नहीं तो ढेर सारे सवालों का सामना करना पड़ेगा। उसने पर्स खोला, शीशा निकाला और कोशिश कर मुसकरायी। लिपस्टिक ठीक की, बाल सँवारे और अब अपने कमरे में दाखिल होते के लिए तैयार थी।

दरवाजा खुलते ही डॉ० सहगल ने निगाह ऊपर उठाई और बोले, "गुड मार्निंग, मिसेज वर्मा!" धीमे से 'गुड़-मार्निंग' कहकर शीशे वाली मुसकान के साथ उनकी ओर देखा और झट से निगाह नीची करके अपने मेज की ओर चली गयी। जल्दी से अपने-आपको काम में व्यस्त करने की कोशिश में लग गयी जिससे बातचीत का अवसर न मिले।

"मिसेज वर्मा, क्या बात है, आज आप कुछ परेशान-सी नजर आ रही हैं!"

"कोई खास बात नहीं!"

"फिर भी, कुछ तो जरूर लगता है, क्या हैडेक है?"

"हाँ।" बातचीत के सिलसिले को बन्द करने के लिए मिसेज वर्मा ने बड़ा रूखा और कटा हुआ उत्तर दिया।

स्वर की उपेक्षा को डॉ० सहगल पहचान गए थे। उन्हें बुरा भी लगा। किन्तु उसी समय कागज समेटकर कुर्सी से उठे और मिसेज वर्मा की लैब-टेबल के नजदीक आकर बोले, "मिसेज वर्मा, यू मस्ट नो, वी आर कुलीग्ज। वी हैव टू बी टुगैदर फॉर एट-लीस्ट सेवन आवर्ज—वैदर वी लाइक इट ऑर नॉट! —सो, लैट्स बी फ्रेंड्स!" यह कहते हुए डॉ० सहगल ने हाथ आगे बढ़ाया। मिसेज वर्मा की समझ में नहीं आ रहा था क्या करे—डॉ० सहगल का हाथ आगे बढ़ा हुआ था और हवा में झूल रहा था। एक क्षण में डाइरेक्टर का यह वाक्य उसके दिमाग में कौंध गया—'ही इज कॉम्पीटेंट इनफ टू बी यौर गाईड ईवन।'

और मिसेज वर्मा ने अपना हाथ आगे बढ़ा दिया।

उस अजनबी स्पर्श के कारण मिसेज वर्मा का चेहरा लाल हो गया और पहले की तरह वह कोई उत्तर नहीं दे पायी। सिर्फ हिम्मत करके मुसकरायी। अनजाने ही धीरे-धीरे सारा तनाव पिघलने लगा। हाथ के स्पर्श मात्र से मन का यह तनाव कैसे दूर हो गया, यह वह स्वयं भी नहीं जान पायी।

"अब बताएँ, कौन-सी गोली सूट करती है—एनलजीन, एनासिन या सेरिडॉन ?"

"गोली की कोई जरूरत नहीं, मैं ठीक हूँ !"

"आर यू श्योर ?"

"सच कह रही हूँ, अब ठीक हूँ।" मिसेज वर्मा ने फिर से निगाह मेज पर पड़े कागजों पर डाली।

"दैट्स वंडरफुल—गोली न सही, चाय पी जाय। आपके चेहरे से लग रहा है, आप नाश्ता करके नहीं आयीं। मैं भी आज जल्दी से ब्रेकफास्ट नहीं कर सका।...व्हाट वुड यू हैव, ऑमलेट, फ्राइड एग, कटलेट ?"

"कुछ नहीं, मुझे आदत है।"

"पर मुझे नहीं है और मैं तो अपना नाश्ता मंगवाऊँगा ही।" और बिना उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये चाय और कटलेट मँगवा लिए।

"मेरे लिए आपने वैसे ही मँगवा लिया, मुझे सचमुच भूख नहीं, कुछ खाने का मन नहीं।" मिसेज वर्मा ने आग्रह के साथ कहा।

"चाय आ लेने दीजिए, शायद मन बदल जाए ?" एक विनोदात्मक मुसकान के साथ डॉ० सहगल ने कहा।

"इतनी जल्दी मन नहीं बदलता !"

"पर खाने-पीने के मामले में तो मन को कड़ा करना वेस्ट ऑफ इनर्जी है ! मन की इस ताकत का कहीं और इस्तेमाल करना चाहिए।"

"और कहाँ इस्तेमाल करना चाहिए ?" मिसेज वर्मा को डॉ० सहगल से बात करना अच्छा लग रहा था। किसी दूसरे आदमी ने इतने आग्रह से खाने के लिए शायद पहली बार कहा था। उनके स्वर में एक आत्मीयता और अधिकार था; उन्हें मना करना मुश्किल ही नहीं, असम्भव लग रहा था।

"आजकल तो कदम-कदम पर इनका इस्तेमाल करना पड़ता है।...मैं समझता हूँ, नये इन्वायरमेंट के नये चैलेंजिज का मुकाबला करने के लिए मन की इस ताकत का इस्तेमाल करना चाहिए।"

मिसेज वर्मा मुग्ध भाव से डॉ० सहगल की बात सुन रही थी जबकि उसे पूरी बात समझ नहीं आ रही थी। उसे डॉ० सहगल का बार-बार कन्धों को सिकोड़कर और हाथ से रूखे बालों को पीछे करते हुए बात करना बड़ा आकर्षक

लग रहा था। वह चाहती कि बात जारी रहे। बोली, "जरा बात खोलकर बताइये, मैं आपकी बात ठीक से समझ नहीं पायी। इन्वायरमेंट के आखिर कौन-से चैलेंजिज हैं ?"

"यहाँ रहते हुए यह बात मेरी समझ में भी नहीं आती थी। बाहर जाकर ही अचानक यह अहसास हुआ। भारत में हम लोग मन की ताकत का इस्तेमाल बस इन छोटी बातों में लगा देते हैं—मीट नहीं खाना, शराब नहीं पीना, इसे नहीं छूना, उसे नहीं छूना, यह नहीं करना, वह नहीं करना। यह सब तो सुरक्षित आदमी के चोंचले हैं।"

"सुरक्षित आदमी के चोंचले···!"

"विदेशी जीवन के सम्बन्ध में बहुत जाने बिना यदि अचानक अमेरिका या यूरोप के किसी शहर में चले जाएँ तो जो असुरक्षा और परायेपन का जो एहसास होता है उससे एक बार तो दिल व दिमाग भन्ना जाता है। वहाँ मन की ताकत की जरूरत पड़ती है।"

मिसेज वर्मा सराहना-भरी दृष्टि से डॉ० सहगल को देख रही थी। उसे इस बात का आश्चर्य हो रहा था कि अपने विषय के साथ-साथ इस आदमी को जिन्दगी की भी कितनी गहरी समझ है! अकसर साइंस वाले अपने फील्ड से बाहर बहुत कम जानते हैं। विदेश से आनेवाला हर व्यक्ति तो इस तरह की बात नहीं करता। अकसर तो लोग वहाँ के गैजेट, आराम और ऐश की चर्चा करते हैं, किन्तु डॉ० सहगल की बातों से विदेशी जीवन का बिलकुल एक नया पहलू सामने आया।

"मिसेज वर्मा, वैसे तो हर नया परिचय, और किसी भी नये स्थान की यात्रा एक नया अनुभव होती है, पर विदेश-यात्रा सिर से पाँव तक आदमी को हिला देती है। ऐसा कल्चरल शॉक लगता है कि एक बार रूह काँप जाती है—खासकर मेरे जैसे मिडिल क्लास आदमी की ?···यहाँ भी मन की ताकत की जरूरत होती है।"

"कल्चरल शॉक—यह क्या होता है ?"

"यह बताने की चीज नहीं, भोगने और झेलने की चीज है। अपने पारम्परिक संस्कारों से लड़ना होता है और नयी जीवन-पद्धति को स्वीकारना! यहाँ आपको शायद नौकरी करना, मेरे साथ एक ही कमरे में बैठना, मिलने के चौथे दिन मेरा इतनी बात करना ही कुछ अजीब लग रहा होगा—पर आप अन्दाजा ही नहीं लगा सकतीं कि यूरोप के लोग एक दिन की मुलाकात में किन-किन सीमाओं को लाँघ लेते हैं! खैर, छोड़िए इन बातों को। असल में आपसे मिलकर मुझे अच्छा बहुत लगा। इसलिए इतनी बात कर गया।"

नाश्ता खत्म हो चुका था और दोनों अपनी-अपनी मेज पर चले गए।

इसी तरह छुट-पुट बातचीत होती। कई दिन बीत गए। एक दिन डॉ० सहगल ने साढ़े ग्यारह बजे चाय मँगवाई और मिसेज वर्मा को अपनी सीट के पास की कुर्सी पर आने के लिए कहा। मिसेज वर्मा ने झिझकते हुए कहा, "रोज-रोज आप ही चाय मँगवाएँ, यह ठीक नहीं।"

"ठीक और अठीक का फैसला कौन करेगा ?"

"फैसला, इसमें फैसले की क्या बात है ! आज की चाय मेरी ओर से।"

"ठीक है ! हमें तो चाय से मतलब है। अब महिलाओं का काम तो कीजिए।"

"ओह सॉरी !" यह कहती हुई मिसेज वर्मा ने केतली से चाय प्यालों में उंडेली !

"चीनी ?"

"बिलकुल नहीं।"

"लीजिए।" मिसेज वर्मा ने प्याला थमाया।

दोनों चुप थे।

"क्या सोच रहे हैं ?"

"कुछ खास नहीं, असल में अभी नया-नया आया हूँ, वैसे ही बात-बात पर दिमाग पश्चिम के साथ तुलना करने लगता है। पर सोचता हूँ, यह कितना गलत है !"

"गलत और सही का तो मुझे मालूम नहीं, पर शायद बहुत नेचुरल है !"

"नेचुरल तो है, पर क्या हर नेचुरल बात के अनुसार चला जा सकता है ? शायद नहीं।" और एक भरपूर निगाह मिसेज वर्मा के चेहरे पर डाली।

मिसेज वर्मा कुछ पल तो डा० सहगल की ओर देखती रही, किन्तु जब उन्होंने निगाह हटायी नहीं तो संकोच से चेहरा नीचे कर सोचने लगी कि इस तरह आँखों में झांककर बात करने का यह अन्दाज भी शायद पश्चिमी है। इससे कोई और मतलब नहीं निकलना चाहिए।

"···पर नेचुरल बात की एक अपनी खूबसूरती नहीं होती ?···जैसे तेज हवा के झोंकों की भी एक खूबसूरती होती है—जैसे चरमराते सूखे पत्तों की भी एक अलग ही खूबसूरती होती है और जैसे बिना प्रयास के जूड़े में बँधे हुए इन लम्बे बालों की भी एक खूबसूरती है।" डा० सहगल की निगाह मिसेज वर्मा के जूड़े पर टिकी हुई थी। मिसेज वर्मा ने फिर नजरें नीची कर लीं। निगाह लैब-टेबल पर पड़े कैक्टस पर गयी। ऊसर में पैदा होने वाले इस कैलटस को भी चीरने पर दूध निकल आता है। अनजाने ही मिसेज वर्मा का हाथ जूड़े की ओर चला गया और वह बालों को सँवारने लगी।

"यह तो बड़ा जुलम है, तुम्हारे मर्द इतने बेदर्द होते हैं !"

"बेदर्द नहीं, मर्द हैं, वह भी मर्द कैसा जो अपनी औरत को काबू में न रखे।"

"क्या सिर्फ मार-पीट से ही औरत को काबू में रखा जा सकता है ?"

"मैं क्या जानूँ, सारे मर्द यही करते हैं। कई सालों से मार खा रही हूँ, अब तो आदत पड़ गयी है। रोटी खाना, मार खाना—दोनों एक-से लगते हैं।"

"तुम तो कमाई भी करती हो, उसकी मार क्यों सहती हो ?"

"कमाई करती हूँ बच्चों का पेट पालने के लिए।···साथ रहेंगे तो बर्तन टकराएँगे ही।"

मैं सोच रहा था, कैसे उसने सारी स्थिति को स्वीकार किया हुआ है। घर चलाना है, बच्चे पालने हैं, इसके लिए वह कुछ भी सहने को तैयार हैं। कहीं कोई विद्रोह नहीं और समान अधिकारों का भी सवाल नहीं। स्वीकृति ही स्वीकृति—घर के लिए, बच्चों के लिए।

इन सबके बावजूद मैंने सोचा कि द्रोपदी के आदमी से बात करूँगा। वह किसी सरकारी दफ्तर में जमादार है। हर इतवार काम करने वही आता है। दफ्तर में छुट्टी रहती है, इसलिए इतवार के दिन द्रोपदी के काम का जिम्मा उसका होता है। द्रोपदी घर रहती है और बाहर के सारे काम जमादार निबटा आता है। द्रोपदी के 'घरों' में यदि कोई खुशी-गमी हो तो जमादार दफ्तर से छुट्टी ले लेता है। पति-पत्नी दोनों जी-तोड़ मेहनत करते हैं। ऐसे मौकों पर ही कुछ ऊपर की कमाई हो सकती है। बाहर के कामों में उनका यह तालमेल देख कर कभी सोच ही नहीं सकता था कि घर पर जमादार उसे मारता भी होगा। किन्तु बार-बार मन में यह प्रश्न उठ रहा था कि वह द्रोपदी का ऑपरेशन क्यों नहीं करवाता ? इसके पीछे भी क्या कोई अन्धविश्वास है या कोई और बात ?

इतवार को जमादार से बात की, "देखो, वैसे तो यह तुम्हारे घर का मामला है, मेरा दखल देना गलत है, पर मैं तुम्हारी भलाई चाहता हूँ, इसलिए बात कर रहा हूँ।"

जमादार इस तरह मेरी ओर देख रहा था जैसे कुछ समझ में न आ रहा हो। मुझे अपनी भूल का एहसास हुआ, सीधी-साफ बात कहने के लिए यह भूमिका अनावश्यक थी। पूछा, "कितना कमाते हो ?"

"दो सौ रुपये।"

"छः बच्चे और दो तुम, कुल आठ जीव, और एक आने वाला है—हरेक के हिस्से पच्चीस रुपये भी न आये। इतने का तो एक आदमी आटा खा लेता है, तुम गुजारा कैसे करते हो ? बच्चों को कपड़े-लत्ते कहां से पहनाते हो। सुख-दुःख में क्या करते हो ?"

"सब आप लोगों की मेहरबानी से हो जाता है।"

"वह तो ठीक है, पर इसी तरह तुम्हारे बच्चे होते रहे तो कैसे चलेगा ? इस बार द्रोपदी का ऑपरेशन क्यों नहीं करवा लेते ?"

"करवा तो लेता—पर साहब, आपको क्या बताऊँ, इन औरतों को तो ढोरों की तरह मार-पीटकर सही राह चलाना होता है। यह तो जानवर होती हैं—जानवर !"

"जानवर ? क्या मतलब ?"

"मतलब तो साफ है, हम लोगों की जिन्दगी तो कीचड़ है, आप नहीं समझ सकते। कल ही की बात है, झुग्गियों में बूढ़े चाचा की लुगाई एक मजदूर के साथ भाग गयी। तभी मैं सोचता हूँ, पेट में बच्चा हो तो लुगाई भाग नहीं सकती।" एक दार्शनिक की तरह जमादार कहता चला जा रहा था, "मार-पीटकर इन औरतों को काबू न रखा जाये तो घर-घर की खाक खाती फिरें।"

"अच्छा ?"

"आप तो देवता लोग हैं—दुनिया को आप नहीं जानते, हम तो जहान-भर का गंद ढोते हैं, हम सब जानते हैं। जगह-जगह घर की गन्दगी साफ करनी होती है। सब लोग आप जैसे थोड़े ही हैं। लुगाई न भी चाहे, दुनिया नहीं छोड़ती।"

"काम करने तो सुबह जाती है, क्या···?"

"यहाँ के लोग सुबह-रात की तमीज नहीं करते, खासकर बाहर से आये हुए लड़के।"

मैं अनजाने ही उसकी बातों में रस लेने लगा था। वस्तुत: द्रोपदी के शरीर की गठन में एक आकर्षण है, यदि कोई मनचला बहक जाए तो अचरज नहीं। कुछ और अधिक जानने की उत्सुकता जागी और बोला, "क्या कभी किसी ने ऐसी हरकत की ?"

"क्या बताऊँ साहब, पिछले महीने की ही बात है, सत्ताइस नंबर की कोठी के ऊपर वाले कमरे में जाने कहाँ का एक लड़का रहता है। लम्बे-लम्बे बाल और जोकरों की तरह कपड़े पहनता है। एक दिन द्रोपदी झाड़ू दे रही थी कि उस लड़के ने बटुए से दस का नोट निकालकर दिखाया और चिटकनी बन्द कर ली। उस दिन तो फटकार कर निकल आयी, पर औरत की जात है, कभी फिसल भी सकती है, ललचा भी सकती है। अभी तो फिर भी डरती है, ऑपरेशन हो गया तो जो चाहे करे। अपनी पड़ोसिन मनन को जो देखती है। उसका कोई बच्चा नहीं। लोग-बाग कहते हैं, वह दो रुपये में बिछ जाती है।"

एक झटका-सा लगा, जैसे अचानक पाँव कीचड़ में जा पड़ा हो। गलती हो गयी। सोचा—इन लोगों के मामलों में बहुत उलझना नहीं चाहिए। मन को समझाया, मैं तो उसकी भलाई की ही सोच रहा था। यह उलझना तो नहीं, सो

बोला, "उसका ऑपरेशन नहीं करवाना, तो अपना ही करवा लो, उसमें क्या हर्ज है ?"

"मैं तो तैयार हूँ, वही नहीं करवाने देती ।"

बात फिर से उलझ गयी । उसे क्या आपत्ति हो सकती है ? शायद समझती हो कि ऑपरेशन से उसका मर्द कमजोर हो जाएगा । जरूर यही सोचती होगी । किन्तु मन में यह जानने की इच्छा हुई कि असल कारण क्या है । द्रोपदी क्यों ऑपरेशन नहीं करवाने देती ? उसी क्षण खयाल आया, मुझे क्या लेना-देना है, जो चाहें करें । इन लोगों के निजी मामलों में दखल देना ठीक नहीं ।

कुछ दिनों बाद की घटना है । कमला घर पर नहीं थी । वह महीने के लिए मायके गयी हुई थी । शाम का वक्त था । मैं अपने कमरे में बैठा कुछ लिख रहा था । द्रोपदी कब दबे पाँव कमरे में आयी, मुझे पता न चला । अचानक उसके पाँव की झाँझरों की खनक हुई तो उस ओर देखा । हैरान ही रह गया । आज द्रोपदी बड़ी सज़ी हुई थी । पाँव में झाँझरें, उजला शलवार, कमीज, लाल दुपट्टा, ओठों पर लिपस्टिक, आँखों में सुरमा, पुतलियों में चपलता—उसे तो पहचानना ही मुश्किल था । और शाम को वह कभी आयी भी नहीं ।

"क्या बात है द्रोपदी, आज तुम लोगों का कोई त्योहार है ?"

"नहीं तो, क्या यह कपड़े अच्छे नहीं लगते ?"

"अच्छे क्यों नहीं लगते, मैंने तो वैसे ही पूछा था । क्या कहीं बाहर जा रही हो ?"

"नहीं तो," गर्दन को झटककर, ओठों को मोड़कर यह कहने का उसका एक अपना ही अन्दाज है ।

द्रोपदी ने बड़े सँभलकर दो कदम बढ़ाए और कहने लगी, "आप तो हमेशा काम में ही लगे रहते हैं, आपके कमरे में आते डर लगता है ।"

"डर की क्या बात है, मैंने कभी कुछ कहा ?"

"कहा नहीं, तभी तो डर लगता है ।"

"अच्छा, अच्छा हूँ," यह कहते हुए मैंने द्रोपदी के चेहरे की ओर देखा । मैं अपने में भी एक परिवर्तन महसूस कर रहा था । कमला के न रहने के कारण कुछ अधिक सहज था । द्रोपदी से बतियाना अच्छा लग रहा था । पर बात क्या करूँ ? पूछा, "अच्छा द्रोपदी, कितने घरों में काम करती हो ।"

"यही, बस पाँच घरों में ।"

"सब घरों से क्या दस-दस रुपये ही मिलते हैं ?"

"नहीं तो," उसी अदा में बोली, "कहीं से दस, कहीं से बीस और कहीं से तीस ।"

"अच्छा, तीस भी ? क्या वे कोठियाँ बहुत बड़ी हैं ?"

"कोठी तो बड़ी नहीं, पर एक कोठी में तीन साहब लोग रहते हैं। तीनों दस--दस रुपये देते हैं।"

"वहाँ बीबी कोई नहीं।"

"नहीं, इसीलिए तो जासती काम करना पड़ता है।"

'जासती काम' की बात कुछ समझ में आ रही थी। अपने एक दोस्त मनमोहन की बात याद आयी। उन दिनों मेरी भी शादी नहीं हुई थी। वह भी बैचलर था। वह अपनी जमादारिन को तीस रुपये दिया करता था। पूछने पर उसने बताया कि यह डबल सफाई का रेट है, तन और मन दोनों की सफाई। उसने अपने गुसलखानों में लाइफब्वाय की टिकिया अलग से रखी हुई थी। नौकरी लगने के बाद अपने एक कुलीग के सम्बन्ध में भी यही सुना था। उसकी पत्नी गाँव में रहती थी। उसने भी घर की सफाई करने वाली से रेट बाँध रखा था। उसने बताया भी था—"अपना तो हिसाब सीधा है, जब उसे जरूरत हो, पाँच रुपये; जब मुझे जरूरत हो, दस रुपये।" और ठहाका मारकर हँसते हुए बोला था, "उसे ही इतनी जरूरत रहती है कि दस रुपये की नौबत ही नहीं आती। कभी कहेगी, घर में एक दाना नहीं, कभी यह बीमार है और कभी वह बीमार है।" हँसते हुए उसके भद्दे दाँत और चेहरे की आकृति और उसके होंठों से गिरती लार से उसका भीगता पाजामा—यह दृश्य मैं आज भी नहीं भूल पाया।

क्षण-भर में यह सब बातें कौंध गयीं। सामने खड़ी द्रोपदी मुसकराते हुए कभी अपने घुंघराले बालों की लट को उँगली में लपेटती, कभी दुपट्टे को समेटती, कभी गर्दन दायीं ओर करती और कभी बायीं ओर—कभी एक पाँव पर बोझ डालती और कभी दूसरे पर। बात आगे बढ़ाने के उद्देश्य से कहा, "इसके अलावा कोई ऊपर की कमाई भी होती है ?"

"ऊपर की कमाई हम लोगों की किस्मत में कहाँ, हमें तो तन तोड़कर कमाई करनी होती है।"

"वह तो ठीक है, वह तो ठीक है···"

इस बीच द्रोपदी मेरी कुर्सी के पास जमीन पर आकर बैठ गयी। इतने नजदीक कभी नहीं आयी थी। उसके कपड़ों और शरीर की मिली-जुली गंध आ रही थी। बालों पर उसने सस्ता खुशबूदार तेल लगा रखा था। इस बात की हैरानी थी कि सात बच्चों को जन्म देने के बाद भी इसके शरीर की गठन में कमाल का आकर्षण था। अचानक वह पुरानी उत्सुकता जागी और कहा, "द्रोपदी वैसे यह बात आप लोगों की घरेलू है, मेरे पूछने वाली नहीं···।" फिर संकोच हुआ और चुप हो गया।

"क्या बात, साहब जी ?"

"बात यह है कि···कि तुम जमादार को ऑपरेशन क्यों नहीं करवाने देतीं ?"

"आप समझते नहीं साहब जी, आज का जमाना अच्छा नहीं है। घर-घर जाना होता है, तरह-तरह के लोग होते हैं। धंधा ही गंदगी का है, एतिहात के बावजूद दिक्कत हो सकती है। मर्द का ऑपरेशन हुआ हो तो बिरादरी में नाक नहीं कटेगी ?" यह कहते हुए द्रोपदी ने मेरे पाँव पकड़ लिये, "पच्चीस रुपये चाहिए साहब जी, बहुत जरूरत है—तन-मन से आपकी सेवा करूँगी।" उसने अपना माथा मेरे घुटने से टेक दिया।

उसके कपड़ों, शरीर और सस्ते तेल की मिली-जुली गंध से दिमाग में एक धुंध-सी छा गयी। कुछ समझ में नहीं आ रहा था। चेतना-शून्य होता जा रहा था। हलके से फुसफुसाया "द्रोपदी···!'

उमंग

टेलीफोन पर उसकी खिलखिलाती आवाज को सुनते ही मुरारी को लगा, सिर्फ कानों से ही नहीं, शरीर के पोर-पोर से उस आवाज को सुन रहा हो। साबुन की झाग-सी बुलबुलाती आवाज में वह सराबोर हो गया। झट-से पूछा, 'मिलोगी ?'

'हुं हूं !' और एक क्षण के लिए वह रुकी, फिर बोली, 'हाँ, हाँ, जरूर।' उसकी हुँकार में छिपे आश्चर्य का कारण मुरारी समझ रहा था, क्योंकि अक्सर मिलने का आग्रह अनुराधा किया करती और आना-कानी मुरारी। कभी कहता, दफ्तर में फंसा हूं, निकलना मुश्किल है; ढेर सारे प्रूफ देखकर पत्रिका का प्रिंट आर्डर देना है; बिजली का बिल न दिया तो कनेक्शन कट जायेगा, पर अनुराधा उसकी किसी भी बात को सुनने से पहले ही आदेशात्मक मीठे आग्रह के साथ कह देती, 'कोई बहाना नहीं, बस, मिलना है···मैं साढ़े पाँच बजे यार्क में इन्तजार करूंगी।' वह बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए टेलीफोन बन्द कर देती और मुरारी निश्चित समय अवश्य पहुंच जाता। परन्तु आज···?

आज तो बात ही दूसरी थी। सुबह से अपनी सीट पर बिना कुछ काम किए वह एक गहरी उदासी में डूबा हुआ था।

वैसे तो यह उदासी उसके लिए नयी नहीं थी। पिछले कई सालों से वह इसमें डूबता-उतरता रहा है। इसकी गहराई को नापने के लिए कई बार गोताखोरों की तरह नीचे तल तक उतरा है। तल तक जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं, वहां से सुरक्षित लौट आना उसे स्वयं को भी हमेशा हैरान करता रहा है। गोताखोर तो अपना ऑक्सीजन का सिलेंडर साथ लेकर जाते हैं और उनकी डोर धरती से बँधी रहती है, किन्तु उसने तो अतल गहराइयों में डूबते हुए कई बार महसूस किया है कि उसका सम्बन्ध धरती से टूट गया है। उसे कई बार लगा है कि उसका चेतन अंश कहीं खंडित होकर आकाश, जल, धरती, वायु और सूर्य की रोशनी में विलीन हो गया है। उदासी के क्षणों में वह कई बार आकाश बना है, कई बार समुद्र, कई बार पहाड़ और कई बार हवा। देखा जाए तो, अपनी

जिन्दगी के तीस साल एक ही सीट पर गुजार देने की त्रासदी कोई मामूली त्रासदी नहीं है। इन तीस सालों में उसने अपने भीतर के उल्लास, उमंग, उत्साह ओर न जाने कितने कुछ को धीरे-धीरे दम तोड़ते देखा है। पब्लिकेशन डिवीजन कहाँ का कहाँ पहुँच गया—पुरानी दिल्ली से नयी दिल्ली तक, पर उसकी मेज वहीं की वहीं। वह उप-सम्पादक ही बना रहा।

असल में मुरारीलाल जिन्दगी को ढंग से जी नहीं पाया। अवसाद उसके मन में हमेशा रहता। उसके साथ ही ऐसा क्यों हुआ ? गलती की शुरुआत जन्म से ही हो गयी थी। ज्योतिषी की बात सही है, ऐसे नक्षत्रों में जन्म हुआ है कि जीवन भर, बस, ऐसे ही चलेगा। ऐसे ही, जैसे तीस साल से चल रहा है, पर कई बार मुरारी सोचता कि इस स्थिति के लिए शायद वह स्वयं ही तो जिम्मेवार नहीं ? उसमें ड्राइव नहीं है। किसी भी तरह का खतरा मोल लेने का साहस नहीं है ! स्वनिर्मित सुरक्षा के इस ताने-बाने में स्वयं ही कैद हो गया है।

और कई बार मुरारी को लगता कि उसकी सोच में ही कहीं गलती है। वह अनेक गलतफहमियों का शिकार है। एक अरसे तक उसे यह गलतफहमी रही कि वह हिन्दी का एक बहुत बड़ा साहित्यकार होने जा रहा है। इस गलतफहमी के साथ वह दस साल तक जिया और अब, पिछले बीस साल से 'हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ सम्पादक' बनने का सपना पाल रहा है। अपनी सामर्थ्य से अधिक की अपेक्षा करते रहना ही उसके जीवन की त्रासदी का मूल कारण है···! चेहरे पर उदास, झुर्रियोंदार मुखौटे की असल कहानी शायद यही है।

ऐसा नहीं है कि साहित्यकार के रूप में मुरारीलाल को कभी मान्यता ही न मिली हो। कुछ लोग आज भी मुरारीलाल को एक साहित्यकार के रूप में जानते हैं। कविताएँ वह आज भी लिखता है। उन कविताओं की आज भी चर्चा होती है। पर छह महीने में एक कविता लिखेगा तो भला साहित्यकार के रूप में कविताएँ उसे कहाँ तक मान्यता दिला पायेंगी ?

इसलिए कई बार मुरारीलाल को लगा है कि सामर्थ्य की कमी नहीं, असल में वह स्वभाव से ही सुस्त है। पर हमेशा से तो ऐसा सुस्त भी नहीं रहा। गिरस्ती की यान्त्रिकता और मध्यवर्गीय एकरसता ने उसे ऐसा बना दिया है। उसकी पत्नी ने उसे एक घर दिया, घर के कितने ही सुख और सुविधाएँ दीं। बच्चे दिए, किन्तु साहित्य-सृजन की प्रेरणा नहीं दे पायी। प्रेरणा तो थी अनु !

खैर ! लोगों के आगे इन कारणों का चाहे जितना जाल बिछा ले, पर मुरारी अपने भीतर के दम तोड़ते मुरारीलाल के सिरहाने बैठकर उसकी नब्ज की गिनती कई बार कर चुका है। वह जानता है कि इस मुरारीलाल की संघर्ष शक्ति धीरे-धीरे समाप्त प्राय होती जा रही है। अब तो सभी सफलताओं के साथ खुद लिए हुए निर्णयों का सम्बन्ध बैठाने में वह घंटों एक स्थान पर बैठ

सकता है। कई दिन इस ऊहापोह में काट सकता है, हफ्तों उदास रह सकता है। अपनी निराशाओं और उनके फलस्वरूप पायी अकर्मण्यता का ध्यान कर आत्म-प्रताड़ना में उसने अनेक मास और बरस बिता दिए। साल-दर-साल एक जड़ पत्थर की तरह पसरा रहा। न कोई हरकत, न कोई थिरकन! न कोई तरंग न कोई उमंग!

मुरारी आज भी बरसों से पायी निराश और उदास अकर्मंण्य मानसिकता से टेलीफोन के पास गया था, किन्तु अनुराधा की आवाज सुनकर उसकी मानसिकता इस कदर बदल गयी जैसे रंग के एक क्रिस्टल से, साफ पानी का बड़ा जार रंगत पा जाए। भीतर की जड़ता पिघलने लगी। उसे आकाश में उड़ते गैस के बैलूनों की याद आयी। बड़ी उमंग के साथ उसने आज मिलने की बात कही थी और लहरदार बहाव में बतियाने लगा था और आज उसका मन था कि बातें करता ही जाए···करता ही जाए···पर अनुराधा शायद जल्दी में थी और उसकी आवाज में उतावलापन भी था। 'बाकी मिलने पर' कहकर अनुराधा ने टेलीफोन बन्द कर दिया था।

मुरारी की शादी को बीस साल हो गये थे, पर इसका मतलब यह नहीं कि आज बीस साल बाद अनुराधा को मिलने जा रहा था। इस बीच वे कई बार मिले हैं। दोस्तों की तरह से, बड़े प्यार से मिले हैं। जब भी अनुराधा दिल्ली आयी है, मुरारी से जरूर मिली है।

अनुराधा के पति मिस्टर गौतम धीर फरीदाबाद में, 'एस्कॉर्टस' के सेलस विंग में एक बहुत बड़े अधिकारी हैं। बिजनेस मैनेजमेंट की ऊँची डिग्री तो बहुतों के पास है, किन्तु मिस्टर धीर अपनी समझदारी और अक्लमंदी के लिए पूरी कम्पनी में मशहूर हैं। आदमी की आँखों में झाँकते ही उसके व्यक्तित्व को ऐसे पहचान लेते हैं, जैसे वह आदमी न हो, सामने बिछा प्यानो हो; किस 'की' को दबाने से कौन-सा स्वर निकलेगा, वह भली-भाँति जानते हैं; शायद इसीलिए अपने अधीन काम करने वालों से अधिक काम लेकर भी उन्हें खुश रखना मिस्टर धीर को बहुत अच्छी तरह आता है। हर आदमी की क्षमताओं और जरूरतों को पहचानकर उसके साथ ऐसा सम्बन्ध बनाते हैं कि वह उमर भर के लिए इनका गुलाम बन जाये और अनुराधा का यह तकियाकलाम है, 'धीर साहब, आदमी के दिल को ही नहीं, उसके पेट को भी पहचानते हैं।'

राधा के तीन बच्चे हैं, दो बेटे और एक बेटी। घर है—अपना। कार है इम्पोर्टिड। फ्रिज, टेलीविजन, कुकिंग रेंज और ढेर सारे एफ० डी० तथा नेशनल सेविंग सर्टिफिकेट्स। मिस्टर धीर ने अपनी पत्नी के लिए हर छोटे-बड़े साधन जुटाये हैं पर साथ ही उसे अपनी इच्छाओं-आकांक्षाओं के अनुरूप ढाला भी है—कभी सुनार की मीठी-मीठी आँच में और कभी लोहार की तपती भट्ठी में। इतना

ही नहीं, पत्नी की पसन्द और प्रवृत्तियों के अनुकूल अपनी आदतों को भी बदला है। दोनों के भीतर बहुत कुछ पुराना टूटा भी है और बहुत कुछ नया सँवरा भी है।

मिस्टर धीर बड़े लाड़ के साथ अनुराधा को कहा करते हैं, 'जब फुलवाड़ी में फूलों का बादशाह गुलाब लगाया है तो उसकी देखभाल भी तो शाही ढंग से करनी है···कभी गोड़ी और कभी प्रूनिंग।'

अनुराधा आँखें नचाकर कहती, 'प्रूनिंग ही करते हो।'

'इसीलिए बाल कटवाने हमेशा दिल्ली लाता हूँ।'

और दोनों हँस देते।

और जब दिल्ली आते हैं तो मुरारी को भी जरूर मिलते हैं।

मुरारी को यह जानकर बड़ी हैरानी हुई थी कि अनुराधा ने अपने पति के साथ सारी बात कर ली है। जबकि मुरारी अपनी पत्नी के साथ एक सीमा तक ही बात कर सका था। मुरारी ने सिर्फ इतना ही बताया था कि उसका 'अनु' के साथ एक भावनात्मक सम्बन्ध रहा है। यह नहीं बता पाया कि उसकी मुस्कान अरसे तक उसके मन में गहरे उतरकर शरीर के रोम-रोम में खिलन पैदा करती रही है; कैसे उसके हल्के-से स्पर्श से उसके साँसों की गर्माहट और जिस्म के दबावों की स्मृति मुरारी को पगला देती थी। मन के इन भावों को सिर्फ छिपाया ही नहीं, अपनी गिरस्ती की रक्षा के लिए अपनी पत्नी के साथ मुरारी एक छोटा-सा छल भी करता रहा है। जब कभी अनुराधा दिल्ली आती और उसे घर लौटने में देर हो जाती तो अपने बचाव के लिए हमेशा अनुराधा की निन्दा को अस्त्र के रूप में प्रयुक्त करता।

'अच्छे भले लम्बे बाल थे, फैशन की झोंक में आकर बाल सेट करवा लिए। हुँ! अनुराधा अपने पति को कैसे उँगलियों पर नचाती है। यह मुझे कतई पसन्द नहीं। अनुराधा बड़ी पजेसिव है, दिल्ली आती है तो चाहती है दिन भर उसी के साथ बिताया जाये, यह भी कोई बात है।'

जबकि असलियत यह होती कि मुरारी को ही अनुराधा के साथ बने रहना अच्छा लगता और वह तब तक घर न जाता, जब तक वह फरीदाबाद लौट न जाती।

अपनी पत्नी रेखा के सामने अनुराधा की निन्दा वाली युक्ति मुरारी को बहुत कारगर लगी। यह नन्हाँ-सा लुकाव-छिपाव उसे कभी गलत भी नहीं लगा। भले ही उसे, रेखा की उदारता तथा समझदारी पर पूरा भरोसा था। परन्तु रेखा है तो स्त्री ही। ईर्ष्यावश कुछ कह दिया तो वह बर्दाश्त नहीं कर पायेगा। यही कारण है कि अपनी गिरस्ती की रक्षा के लिए इस छल को बड़ी सहजता से जीता चला आ रहा है, पर उसे आश्चर्य मिस्टर धीर पर होता है कि अनुराधा के साथ

उसके सम्बन्धों की वास्तविकता जानकर भी उसे मुरारी के घर लाते हुए झिझकते नहीं। शायद मिस्टर गौतम धीर यह जान गये हैं कि अनुराधा के मन के किसी कोने में कोई ऐसी अतृप्ति है, जिसे उनका पौरुष तथा दुनिया भर के अधुनातन गैजेट्स तृप्त नहीं कर पाये। मन का यह रेगिस्तानी कोना कई बार फैलता हुआ उनके सारे घर को मरुस्थल बना देता है। उनकी तीखी निगाह ने यह भी जान लिया है कि उसकी जड़ में कहीं मुरारी का संसर्ग है। उन्हें शायद यह भी लगता है कि अनुराधा के व्यक्तित्व की जो महक उन्हें बहुत प्रिय है, उसके लिए उत्तरदायी मन का यही कोना है। यदि इस रेतीले कोने को सींचा नहीं, तो शायद, भीतर ही भीतर, अनुराधा की जीवनी-शक्ति क्षीण हो जायेगी।

गौतम धीर को अपने बैडरूम के फूलदान में गुलाब ही अच्छा लगता है। कई बार सिर्फ गुलाब के फूल लाने के लिए वे फरीदाबाद से दिल्ली भी गये हैं और दिल्ली जाने पर मुरारी से मिलने वाली अनुराधा की शर्त को भी पूरा किया है। गुलाब का शौक है तो फिर काँटों से क्या डरना ! बैडरूम के फूलदान में खिला हुआ तो तरोताजा खुशनुमा गुलाब रहना चाहिए। शायद इसीलिए एक समृद्ध पति, अपनी पत्नी के शृंगार के लिए दुनिया भर के सेंट, कास्मेटिक्स और खूबसूरती बढ़ाने वाले सभी साधन जुटाता रहता है। मुरारी को कई बार ऐसा लगा है कि यदि मिस्टर धीर का बस चले तो वे अलादीन के जादुई करिश्मे से उसे सेंट की खूबसूरत शीशी में कैद कर अपनी पत्नी के ड्रेसिंग टेबल पर हमेशा के लिए सजा दें। इसीलिए वह मिस्टर धीर से कभी आँख नहीं मिलाता।

इसीलिए अपने स्कूटर को 'यार्क' की ओर मोड़ते हुए सोच रहा था, कितना अच्छा हो, यदि आज अनुराधा का पति उसके साथ न हो।

बीस साल पहले जिस कोने में बैठते थे, वहीं लैंपशेड की धीमी रोशनी में अनुराधा को अकेले बैठा देखकर बड़े तपाक् के साथ मुरारी उसकी ओर बढ़ा और साथ वाली सीट पर सटकर बैठ गया। उसके दायें हाथ को अपने बायें हाथ से दबाया। एक क्षण के लिए उसे अपना यह व्यवहार अजीब भी लगा, क्योंकि विवाह के बाद एक शालीन दूरी हमेशा बनाये रखी थी, किन्तु आज की उमंग किसी मर्यादा में बँधना नहीं चाह रही थी। बीस साल बाद भी आज अनु का यह स्पर्श वही थिरकन पैदा करेगा, यह अनुभव उसके लिए बिलकुल नया था। उसका मन हुआ कि अनुराधा को स्कूटर पर बैठाकर 'सिटी फारेस्ट' ले जाये और बीस साल पहले की तरह बाँहों में भरकर चूमे। वह सारा कुछ सोचते हुए उसे लगा कि आज का मुरारी जैसे कोई दूसरा आदमी है। आज उसकी यह उमंग उस मुरारी की है, जो कभी आवेगों, संवेगों की रंगत पहचानता था, जो आकाश के बनने-मिटते बादलों को देखकर अपने मन से अमूर्त भावों की भाषा पढ़ लेता था, जो संसर्ग में आने वाली महिला को आतिशबाजी के अनार की तरह से

नयनाभिराम दे सकता था, पर अब तो ऐसा कुछ नहीं था उसमें। कई बार रेखा तड़पकर उससे अलग हो जाती और महीनों उसके पास न आती।

पर आज के इस व्यवहार का क्या कारण है? कहीं संवेगात्मक असन्तुलन तो नहीं हो गया? अरसे की निराशा और उदासी की यह विक्षेपात्मक परिणति तो नहीं? उसे लगा, ऐसा कुछ नहीं है।

यह सिर्फ इस बात का सबूत है कि अभी वह जिन्दा है। यह अहसास कि उसके भीतर कुछ भी मरा नहीं—सब कुछ वैसे का वैसा जीवित है। बरसों की निराशा और अकर्मण्यता से जो एक पपड़ी उसके व्यक्तित्व पर जम गयी थी, आज अनुराधा के इस प्रफुल्लतापूर्ण स्पर्श से चटक गयी है। समुद्र की गहराइयों से निकली सीपी किनारे की ठंडी हवा के स्पर्श से जैसे फट गयी हो और उसमें बन्द जीव आकाश की ओर देख रहा हो। मुरारी के मन में अनेक कल्पनायें जागने लगीं—अनुराधा को लेकर, रेखा को लेकर...

सामने बठी अनुराधा ने मुस्कराकर प्याली में चाय उँडेलते हुए पूछा, "क्या बात है, आज खुश नजर आ रहे हो?"

मुरारी मुस्करा दिया, बोला कुछ नहीं। अनुराधा ने बताया कि आज यदि मुरारी इतने उतावलेपन में मिलने की बात टेलीफोन पर न कहता तो शायद अनुराधा उसे मिलने के लिए न बुलाती। क्योंकि उसे दो-तीन घंटों में ढेर सारे काम करने हैं।

टी० वी० ठीक करवाने के लिए कम्पलेंट लिखवानी है। बेटे के मॉडर्न स्कूल में एडमिशन के लिए प्रिंसिपल से मिलना है। शनिवार की पार्टी के लिए नये गिलास खरीदने हैं। बेटी के लिए नयी रेसिपी की कुछ किताबें लेनी है। गौतम के पाइप के लिए तम्बाकू खरीदना है और ठीक छह बजे हेयर ड्रेसर की दुकान पर अपने पति को मिलना भी है। अनुराधा एक साथ इतने काम कैसे कर लेती है, मुरारी की समझ में कभी नहीं आया। वह उसके साथ बैठकर चाय पीने का वक्त भी निकाल सकती है और घर के सारे काम भी निपटा सकती है। मुरारी को अनुराधा कई बार उस बोइंग हवाई जहाज की तरह लगती है, जो बारह घंटों में यूरोप के अनेक देशों के हवाई अड्डों पर लेंड करता हुआ शाम को अपने हैंगर के नीचे विश्राम करता है।

पर 'सिटी फारेस्ट' वाली अपनी मनोकामना को उसकी सूची में जुड़वाने का साहस वह नहीं जुटा पाया।

'यार्क' से उठकर अनुराधा की बांहों में लटकते पर्स की तरह मुरारी उसके साथ-साथ घूमता रहा और शापिंग करवाता रहा। जब निश्चित समय पर हेयर ड्रेसर की दुकान पर उसका पति नहीं पहुँचा तो अनुराधा पन्द्रह मिनट में ही परेशान हो गयी। मुरारी उसे स्कूटर पर बैठा कनाट प्लेस के चक्कर काटने

लगा···और अनुराधा की अनेक आशंकाएं···कहीं यह न हो गया हो···कहीं एक्सी···

···और मुरारी को ध्यान आया, वह भी तो दफ्तर से सीधे उठकर चला आया है। रेखा खाना मेज पर लगाए प्रतीक्षा कर रही होगी। बस, यही उसकी बुरी आदत है, यदि किसी कारण से देर हो जाए तो खाना नहीं खाएगी। दोपहर के तीन बज जाएँ या रात के बारह। जब भी घर लौटो, दरवाजे के पास खड़ी मिलेगी।

मिस्टर धीर को देखते ही अनुराधा भूल गयी कि मुरारी उसके साथ है। उन्हें बाँहों में भरकर बोली, 'इतनी देर कहाँ लगा दी ?'

'वैसे ही, मीटिंग लम्बी हो गयी।' अनुराधा अपने पति की बाँहों से गाल सटाये सामने खड़ी थी। मुरारी ने हाथ मिलाने और हालचाल पूछने के बाद एक मिनट भी ज्यादा नहीं लगाया और माफी माँगते हुए घर लौटने को स्कूटर उठाया। स्कूटर चौथी गियर में आया ही था कि तार टूटने की आवाज आयी। गियर वायर टूट गयी, पर स्कूटर चलता रहा।

घर पहुँचते ही मुरारी ने मिस्तरी को बुलाया और गियर वायर बदलवाई। पत्नी ने दो-तीन बार पूछा, "आखिर इतनी जल्दी क्या है, कल इतवार है, कल इत्मीनान से ठीक करवा लेना।"

मुरारी बोला, "जल्दी है, तुम नहीं जानतीं, स्कूटर की गियर वायर से स्कूटर की गति पर काबू रखा जाता है और गति पर काबू न रहे तो···" कहते हुए मुरारी ने उमंग के साथ रेखा को बाँहों में भर लिया।

पंखा-कुली

कड़ाके की धूप, लू के झोंके, बिजली आ अभाव और उस पर पंखा खींचने के लिए किसी आदमी का न मिलना। कभी-कभी तो सोचती हूँ, नरक में भी इतनी दिक्कत न होती होगी। दस बजे तक कोठी के कमरे बन्द न कर दिए जाएँ तो वे भट्ठी की तरह तपने लगते हैं। बच्चों को बुलाकर स्वयं पंखा हिलाती हूँ—दस मिनट में ही बाँहें दुखने लगती हैं, पसीना आ जाता है। ऐसा श्रम करने की आदत भी नहीं।

जब से हमारी बदली यहाँ हुई है, बराबर किसी पंखा-कुली की तलाश में हैं, पर मिले भी ! रामलाल 'उन' का मिस्त्री है। बेचारा पंखा-कुली के लिए सदा कोशिश करता रहता है। कुछ दिन हुए एक लड़का लाया; ताम्बे का-सा धूप-जला रंग, छोटा-सा कद, कोई बारह-तेरह वर्ष का होगा। सिर के बाल तेल से खूब चिपचिपा रहे थे और खोपड़ी पर जूड़े की शक्ल में बँधे थे। नए कुर्ते के नीचे मैली तहमद पहन रखी थी। माँ ने, सम्भवत: यह सोचकर कि बेटा, नौकरी पर जा रहा है, अपनी ओर से उसे खूब सँवार कर भेजा था। तेल की मैल उसके माथे पर निचुड़ आई थी और उसकी छोटी-छोटी आँखों में चंचल पुतलियां कैदी पक्षियों-सी छटपटा रही थीं।

मैं सामने आई तो एक टाँग पर ही अपने शरीर का बोझ रखकर वह लाठी के सहारे खड़ा था। उसकी दूसरी टाँग पहली टाँग से सांप की तरह लिपटी हुई थी।

रामलाल ने उसकी पीठ को थपथपाते हुए कहा, "यह तुम्हारी मालकिन हैं।"

'हूँ !" उसने लापरवाही से सिर हिलाकर कह दिया।

मुझे पंखा-कुली मिलने की जो खुशी हुई थी, वह उसकी 'हूँ' से दबकर रह गई। मेरे स्वाभिमान को धक्का-सा लगा, पर तो भी मैंने वे सब साधारण प्रश्न किए जो एक नौकर रखते समझ किए जाते हैं !

"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"घर वाले चन्दू कहकर पुकारते हैं और बाहर वाले चन्दन सिंह ।"

"मैं तुम्हें क्या कहकर पुकारूं ?"

"चन्दन सिंह, और क्या ? तुम घर को थोड़ी हो !"

मैं उसकी भोली और सयानी बात सुनकर मुस्करा दी और बोली, "कौन से गाँव में रहते हो ?"

"मेरा गाँव नहीं मालूम तुम्हें ?" वह कुछ आश्चर्य से मेरी ओर देखकर बोला, "इमली गाँव के गिर्द चार-चार कोस में जिनके खेती में ईख लगी है, वे सब मुझे और मेरे गाँव को अच्छी तरह जानते हैं। बेचारों को बापू से शिकायत करते जो आना पड़ता है ।"

रामलाल बेचारा झेंप रहा था कि कैसा जंगली लड़का लाकर खड़ा कर दिया है, जिसे तमीज से बोलना तक नहीं आता। डाँटकर लड़के की ओर देखा, "ठीक-ठीक जवाब दे !"

वह शेर की तरह गुर्राया और रामलाल की ओर देखकर बोला, "जो पूछती है जवाब देता हूँ ! और ठीक जवाब कैसे दूं । झूठ बोल दूं क्या ? तुम भी तो भागे-भागे गए थे बापू के पास जब एक गन्ना तोड़ा था तुम्हारे खेत का—न भाई न ! माँ ने कहा है झूठ बोलने से पाप लगता है, झूठ बोलकर नौकरी मिलती हो तो हमें नहीं चाहिए।" यह कहकर वह अकड़ कर खड़ा हो गया, एक लुगाई के सामने झूठ बोल दूं ! चौधरी हो तो बात भी है।"

मैं कह नहीं सकती क्यों मुझे गुस्सा नहीं आया, सोच रही थी शहर के बंधे-घुटे वातावरण में पलने और गाँव की स्वतन्त्र फिजा में साँस लेने में कितना अंतर होता है ?

पर रामलाल को गुस्सा आ गया, कोहनी का टहोका देकर बोला, "तमीज से बात कर नहीं तो···"

"कोई बात नहीं रामलाल, आखिर बच्चा ही तो है ।" मैंने कहा और चन्दू की ओर देखकर बोली, "अच्छा ! तुम झूठ चाहे न बोलो ! अब यह बताओ कि क्या पंखा-कुली की नौकरी करोगे ?"

"कुली-वुली मैं नहीं बनने का ! माँ ने कहा था रस्सी खींचने की नौकरी है—रस्सी के साथ पंखा लगा होगा। मैंने डंडी वाला पंखा देखा है, और वैसा पंखा हमारे घर है भी ! सोचा चलो रस्सी से चलने वाला पंखा भी देख लें—पर तुम तो कहती हो कुली बनना पड़ेगा। न भाई न ! अपना लहना सिंह भी तो शहर में कुली बन पांव कटवा आया था ! मैं कुली नहीं बनने का ! रस्सी से पंखा खिचवाना हो तो दूसरी बात है।

मुझे हँसी आने को थी, पर इस भय से कि कहीं यह गँवार इसमें अपना अपमान समझ कुछ फिजूल की बात न कह दे और मैं अपने क्रोध को काबू में न

रख सकूँ, मैं अपनी हँसी रोककर बोली, "रस्सी ही से पंखा खींचना होगा ! करोगे नौकरी ?"

"करके देखेंगे !" मानो मुझ पर बड़ा अहसान करने जा रहा हो ।

जो भी हो, पर उस समय तो इस विचार ने कि पंखा कुली मिल गया, बड़ी तसल्ली दी, ऐसा लगा जैसे कोई बड़ी समस्या हल हो गई हो ।

पहले पहल जब उसने पंखा देखा तो बड़े आश्चर्य से आँखें फाड़ पंखे की ओर देखता ही रह गया । घबराकर बोला' "हैं ! हैं ! इतना बड़ा पंखा ।—खैर ! मैंने भी बल्लियों को कंधे पर उठाया है, यह कह उसने पंखे को जोर से खींचा—और गिरते-गिरते बचा—"धत् तेरे की ! देखने में तो खूब लम्बा-चौड़ा है, पर जोर तो जरा भी नहीं !"

पहले वह खूब जोरों से खींचता रहा और फिर धीमा पड़ गया ।

कोठी के किवाड़ बन्द किए तो अँधेरा हो गया । उसे बहुत विचित्र-सा लगा और बोला—"तुम्हें दिन को अँधेरा अच्छा लगता है ! रात शायद तुम्हें अच्छी लगती होगी । मुझे तो रात जरा भी पसन्द नहीं । रात भर सोना पड़ता है ! लहना, गोविन्द और सबको सोना पड़ता है । पर हाँ ! एक बात है, अगर किसी के खेत के गन्ने तोड़ने हों तो—अँधेरी रात अच्छी लगती है", वह बोल तो ऐसे रहा था मानो मुझे कुछ समझा रहा हो ।

वह कुछ देर चुप रहता और फिर बोलना शुरू कर देता है । मैंने बच्चों को सुलाया और सोच रही थी कि आज अवश्य कुछ चैन की नींद मिल जाएगी । मेरी आँख लगने को थी कि वह बोल उठा, "छुट्टी कब होगी ?"

"पाँच बजे," कह फिर आँखें मूंद लीं ।

"स्कूल में भी चार बजे छुट्टी हो जाती है और नौकरी में पाँच बजे ! मैंने तो स्कूल ही इसलिए छोड़ दिया था ! कुछ क्षण वह चुप रहा फिर बोला, "माँ कहती थी कि स्कूल जाने से बाबू बनते हैं—पर नौकरी करने में क्या बनते हैं ?"

मैं उसका प्रश्न सुन चौंक उठी और चुप रह गई । कहती भी क्या—यही ना कि नौकरी करने से पंखा कुली कहलाते हैं ! धीरे से बोली, "तुम स्कूल जाया करो !"

"स्कूल ? स्कूल कैसे जाया करूँ ? मास्टर जी का गोल-गोल काला-मोटा रूल नहीं देखा तुमने, जभी कहती हो ! एक दिन मास्टर जी के मकान के पास से क्या निकले कि वो कहने लगे तुमने मेरे खेत की ककड़ियाँ तोड़ ली हैं । दूसरे दिन उन्होंने रूल से खूब पीटा । मैं नहीं गया स्कूल उसके बाद—और फिर स्कूल में चार बजे तक बैठना जो पड़ता है ।

पंखा खींचना उसने लगभग बंद कर दिया था ।

मैं आँखें मूंद कर ही उसकी बातें सुन रही थी, सो उसी प्रकार बोली "पंखा खींचते चलो और बातें मत करो।"

न जाने कैसे वह अबकी बार उत्तर दिये बिना ही चुप रह गया। आँख लगने ही वाली थी कि फिर बोला "वक्त क्या है?" उसके प्रश्न से रौब की गन्ध आ रही थी और ऐसा जान पड़ता था मानो प्रश्न करना उसका अधिकार है।

खीज तो जरूर उठी, पर उसके गँवारपन का ध्यान कर बोली, "तीन बजे हैं!—चुपचाप पंखा हिलाओ!"

उस पर मेरे इन शब्दों का असर क्यों होता? झट बोल उठा "आगे तो इस समय पाँच बज जाया करते थे! गाँव में तो चुटकी में साँझ हो जाती है, तुम्हारी कोठी में तो हो ही नहीं रही। घंटों समय बीत गया और तुम कहती हो अभी तीन ही बजे हैं।"

बहुत बुरी हालत थी उस बेचारे की।

यह सोच कि कहीं नौकरी न छोड़ दे, मैं बड़े मधुर स्वर में बोली, "बच्चों को उठ लेने दो, तभी छुट्टी दे दूंगी!"

"बच्चे भला क्यों उठने लगे। उनको तो ठण्डी-ठण्डी हवा लग रही है! वो तो रात भर नहीं उठेंगे। खेलते नहीं हैं यह बच्चे? बीमार हैं क्या?"

मुझे उन पर गुस्सा भी आ रहा और हँसी भी। गुस्सा उसकी मूर्खता और हँसी उसके भोलेपन पर।

"अच्छा, अब तुम्हें छुट्टी!" यह कहकर मैं पंखा स्वयं हिलाने लगी। "कल जरूर आना, कल भी इसी समय छुट्टी दे दूंगी!—यह सोच कर कि धीरे धीरे आदत पड़ जायगी और बाद में आराम मिलेगा, मैंने उसे छुट्टी दे दी।

छुट्टी देकर मैं समझ रही थी कि मैंने अपनी उदारता का परिचय दिया है, पर उसने भी मुझ पर कम उदारता नहीं दिखाई—वह फिर कभी नहीं आया।

पोर फायरिया

संजय मेहता की समझ में कुछ नहीं आ रहा था, अचानक यह क्या हो गया है? वह पाँव हिलाना चाहता है, पाँव नहीं हिलते। करवट लेना चाहता है, नहीं ले पाता। उसका सारा शरीर जैसे नकारा होता जा रहा है। उसकी पत्नी सावित्री घबरा जाती है : क्या करे, कैसे करे, किसकी राय ले, किसे बुलाए ? क्योंकि शहर में कर्फ्यू लगा है। सावित्री को याद आया कि पास ही उसकी एक कोलीग के पति पीजीआई में डाक्टर हैं। उन्होंने फोन पर ही एम्बूलेंस और कर्फ्यू परमिट का प्रबन्ध कर दिया।

पीजीआई की इमरजेंसी। उसका परीक्षण हो रहा है। उसके पाँव में सैन्सेशन नहीं है।

"आंखें बन्द करें", डाक्टर कहता है।

"अब पाँव में कुछ महसूस हो रहा है ?"

"नहीं।"

पिन को दायें पाँव के ऊपर पिंडली पर चुभा कर, "अब कुछ महसूस करते हैं ?"

"नहीं।"

उसी तरह बायें पाँव के ऊपर पिंडली पर पिन चुभाकर, "अब कुछ महसूस करते हैं ?"

"नहीं।"

दायीं जाँघ पर चुटकी भरता है। वह दर्द महसूस करता है। उसी तरह बाँयीं जांघ में भी दर्द महसूस होता है।

डाक्टर असमंजस और परेशानी के साथ उसांस लेकर, "दैट मीन्स, दोनों टाँगें घुटनों तक पैरालाइज्ड !"

"पैरालिसिस !" हैरानी के साथ सावित्री ने कहा।

"पैरालिसिस तो समझ में आता है, पर दोनों टाँगों में है, दिस इज स्ट्रेंज ! इट इज नॉट ए केस ऑफ सिंपल पैरालिसिस !" डाक्टर अपने साथी डाक्टर अवस्थी से बात कर रहा था।

डाक्टर अवस्थी जैसे पढ़ी हुई किसी बीमारी के साथ इसे जोड़ पा रहे थे, बोले, "इसके यूरिन का पोरफोबोलोजिन टेस्ट करवाना चाहिए—लगता है नर्वस सिस्टम सम्बन्धी कोई गंभीर बीमारी है। देर नहीं करनी चाहिए। सीनियर डाक्टर के लिए कॉल भेजें।"

रात के ग्यारह बजे का समय। सावित्री अपने पड़ोसी दीनदयाल शर्मा जी के साथ इमरजेंसी में। सीनियर डाक्टर ने कई तरह के टेस्ट बताए। यहाँ पैसे। वहाँ सैंपल। रिपोर्टों की प्रतीक्षा।

रिपोर्ट देखकर डा० अवस्थी ने कहा, "रात को हम कुछ नहीं करेंगे, सिर्फ आब्जर्व करेंगे। आप घर जा सकती हैं। सुबह जल्दी आ जाइएगा। कल से ही इनका इलाज शुरू होगा।"

सावित्री का मन संजय को अकेले इमरजेंसी में छोड़कर जाने को नहीं होता। किन्तु घर में अकेली दो बच्चियाँ हैं और शहर के कई इलाकों में कर्फ्यू लगा हुआ है। उसने फिर से पूछा, "डाक्टर साहब, कोई खतरे वाली बात तो नहीं ?

"इस समय तो नहीं—सुबह देखेंगे।···सुबह अलबत्ता जल्दी आ जाइएगा !" डाक्टर के स्वर में अतिरिक्त सहानुभूति का भाव है। सावित्री का मन इस सहानुभूति से आशंकित होता है। किन्तु अकेली बच्चियों का ध्यान कर वह संजय को नीम बेहोशी में इमरजेंसी वार्ड में छोड़कर घर चली जाती है। जून की तपती गर्मी। इमरजेंसी वार्ड में एक बिस्तर पर संजय मेहता को लेटा दिया गया है। उस बिस्तर के ठीक ऊपर एक पंखा है। पंखा चल रहा है।

नीम-बेहोशी में उसे पंखे की गति का ही अहसास हो रहा है।

धीरे-धीरे उसे होश आ रही है।

उसके बिस्तर के सामने एक घड़ी है। उसकी निगाह कभी सैकिंड वाली तेज चलती सुई की ओर जाती है और कभी मिनट वाली···

घड़ी की इन सुईयों की चाल वह खूब पहचानता है। इनकी हरकत के इशारों पर वह बरसों नाचता रहा है। उसे याद आ रहा है : बरसों से दोहराई जाने वाली यांत्रिक गति में वह रोबोट की तरह चलता रहा है—अब चाय, अब अखबार, अब शेव, अब नहाना, अब नाश्ता, अब दफ्तर, अब वापसी, अब बच्चों की आउटिंग, अब अफसरों के घर हाजिरी : बेकार की गुफ्तगू : इधर की, उधर की ! और अब खाना, सोना !

शनिवार को बिस्तरबाजी, और लपट-झपट की थिरकन। सब यांत्रिक !

सब यांत्रिक।

घड़ी की सुईयों के साथ चलता जीवन···और उसकी रफ्तार।

कभी तेज, कभी हल्की, कभी सुस्त ! सैकिंड़ की सुईयों की तरह तेज;

मिनट की सुईयों की तरह सुस्त ! ! उसे याद आया कि उसके जीवन की गति यांत्रिक होते हुए भी कभी खराब घड़ी की तरह या किसी मशीनी गरारी पर लगी सुईयों की तरह इतनी तेज हो जाती—कि सुईयों की पहचान ही खो जाती। जीवन एक गतिमान वृत्त बन जाता। पर इस चाल से कितने दिन चला जा सकता है।

आकाँक्षाएँ, रोशनी की चाल से भी तेज भागती हैं।
पर शरीर, शरीर की अपनी सीमाएँ हैं !
शरीर चलने से इनकार करता है !
वह बीमार हो जाता है। ठहराव आ जाता है।
घड़ी की सुईयाँ रुक जाती हैं।

अब, वह पूरा जोर लगाकर टाँग को हिलाना चाहता है, हिला नहीं पाता। उसे पेशाब आया है। वह उठेगा नहीं तो पेशाब कैसे कर पाएगा। किसे बुलाए? क्या कहे? वह डाक्टर को बुलाना चाहता है, पर डाक्टर स्क्रीन के पीछे एक गंभीर मरीज को आक्सीजन लगा रहा है। नर्सें भी व्यस्त हैं। पास से जब वार्ड सर्वेंट गुजरता है—वह उसे आवाज देता है, "सुनो, भाई, जरा सुनो !" वह उसकी आवाज को सुनकर भी अनसुना कर एक्सीडेंट केस वाले बैड के पास बिखरे खून को साफ करता है। उसे अपनी पत्नी पर बेहद गुस्सा आता है, वह उसे इस हालत में अकेले छोड़कर क्यों चली गई !

डाक्टर ने कहा, घर चले जाओ, और वह घर चली गई। यहाँ, मुझे इस नरक में अकेला छोड़कर !

वह पूरा जोर लगाता है कि पाँव को घिसटाकर बिस्तर के नीचे लटका दे और खड़े होने की कोशिश करे ! उसे लगने लगा कि घुटनों के साथ बन्धे भारी-भरकम पत्थर हैं जिन्हें हिलाना संभव नहीं। थकान के समय पिंडलियों के दर्द के अहसास को वह जानता है। इस दर्द के कारण कदम न उठा पाना या दर्द के बावजूद कदम रखना—और चलते चलना कितना आत्मीय अनुभव है। परन्तु अब टाँगों का पत्थर हो जाना,—भीतर की सारी सोच और शक्ति से उसे हिला न पाना। शरीर के सभी अंग उसकी सोच के कितने आज्ञाकारी रहे हैं। और अब—वह सोच रहा है, कोशिश कर रहा है, पर पाँव हिलते ही नहीं। सोच निरर्थक होती जा रही है। पेशाब का दबाव बढ़ रहा है और टाँगों में हरकत नहीं। बेबसी का ऐसा अहसास उसे कभी महसूस नहीं हुआ। उसके बैड के सामने हार्टपेशेंट है। उसे ऑक्सीजन लगी है। साथ ही मॉनीटर लगा है : टिक टिक ··पी-पी ···टिक टिक की निरंजर आवाज आ रही है। दायीं तरफ वाला मरीज बेहोश पड़ा है—उसे खून चढ़ाया जा रहा है। देखने में वह तो भला-चंगा है। इसलिए कोई नर्स उसके

पास नहीं आती। बुलाने पर भी बार्ड सर्वेंट नहीं आता। गॉल ब्लेडर पर दबाव पड़ रहा है और उसे लगता है कि पेशाव को रोक पाना संभव न होगा। वह चीखकर पास से गुजरते डाक्टर को बुलाता है, "डाक्टर ये मेरे पैरों को क्या हो गया है—लाख कोशिश से हिलते क्यों नहीं ! घंटे भर से पेशाब रोके हूँ—बाथरूम कैसे जाऊँ ? क्या करूँ डाक्टर—मैं मर रहा हूँ—पेट में इतना दर्द हो रहा है··· और मेरी ये टाँगें, क्या मैं इन्हें कभी नहीं हिला पाऊँगा ?"

"सब ठीक हो जाएगा"—यह कहते हुए डाक्टर वार्ड सर्वेंट को आवाज देकर बुलाता है, "दीवान—इन्हें पिस-पॉट दो !" और नर्स को कुछ समझाता है !

पेशाव कर लेने के बाद लगता है जैसे जान में जान आ गई हो। शरीर और नसों का सारा तनाव ढीला पड़ गया है। गुस्सा फिर सावित्री पर आता है जो उसे अकेला छोड़कर घर चली गई है ! पर···मेरी टाँगें, इन्हें क्या हो गया है ? पहले तो कभी ऐसा नहीं हुआ।

"डाक्टर, मुझसे यह सब बर्दाश्त नहीं हो रहा, मुझे कोई दवाई देकर सुला क्यों नहीं देते ?"

"आपको कोई दवा नहीं देनी ! आब्जर्व करना है। सो चुपचाप लेटे रहिए !"

संजय बैड के साथ की खिड़की की ओर देखने लगता है बाहर अन्धेरा ही अन्धेरा है। पीजीआई की चार मंजिला बिल्डिंग के ऊपर एक छोटा-सा टुकड़ा आसमान का भी दीख रहा है। स्काई इज द लिमिट···

यह तकिया कलाम था उसके एक दोस्त का···वह भी तो आसमान को छूने के लिए भाग-दौड़ कर रहा था। उसे अक्सर लगता था जिंदगी छोटी है और जाना बहुत दूर है ! सभी को पीछे पछाड़ते हुए, सौ-मीटरी-रेस में ओलिम्पकी तेजी लिए हुए—शरीर की सारी ऊर्जा और शक्ति को, गति की क्षिप्रता में केन्द्रित करते हुए, रॉकेट स्पर्धा के साथ भागना···और तेज भागना। भागना और हांफना। धौंकनी सी फेफड़ों में हरकत ! फैले नथुने और खुला हुआ मुँह !! और अब···और अब···इन टाँगों का क्या बनेगा ! ये हिलती क्यों नहीं है !

संजय को ध्यान आया कि बेहतर नौकरी पाने के लिए वह कहाँ-कहाँ नहीं भटका—कभी कानपुर, कभी बम्बई, कभी मद्रास—और कभी अहमदाबाद। अठारह साल की सर्विस में कम से कम आठ जगह बदलीं। बेहतरीन नौकरी की तलाश में। सावित्री के लाख समझाने पर भगवान का दिया बहुत है, रोज-रोज सामान उठाकर भटकना ठीक नहीं। बच्चे बड़े हो रहे हैं, उनकी पढ़ाई के बारे में भी सोचना चाहिए !

संजय की समझ में यह बात नहीं आती। उसे स्कूटर नहीं, मारुति चाहिए।

उसे सोफा, फ्रिज, टी० वी० वीडियो ही नहीं अपना मकान चाहिए। उसे एक भारी बैंक बैलेंस चाहिए। लाखों की भला क्या कीमत!

संजय से यह बर्दाश्त नहीं होता कि उसका कोई मिलने वाला या क्लास-फेलो उससे बेहतर नौकरी पा ले। उससे पहले गाड़ी खरीद ले, मकान बना ले··· उसे लगता है यदि सभी दौड़ रहे हैं—तो वह भी क्यों न दौड़े? सभी हाँफ रहे हैं—तो उसके हाँफने में क्या हर्ज है? वह अपने अपने हर प्रतिद्वन्द्वी की रफ्तार को पकड़ना चाहता है! उस रफ्तार की तेजी तक पहुँचने के लिए भीतर की कोशिश को संजोता है! कोशिश ··और कोशिश।

जमाने की उस रफ्तार को पकड़ नहीं पाता। नसें तनने लगती हैं। तनती जाती हैं···और हर रोज एक नये संकल्प के साथ, एक नये उत्साह और उमंग के साथ जमाने की रफ्तार को अपने में समोता हुआ—तेज कदम रखता है। उस रफ्तार की लय में अपने शरीर के सभी अंगों में तेजी लाता है। तेजी··और अधिक तेजी। संजय समझ नहीं पाता कि जिंदगी की इस रेस का अंतिम पड़ाव कौन-सा है? बरसों एक स्नायविक तनाव को झेलना! नसों का इस कदर तन जाना कि जिंदगी में ठहराव आ जाना!! डिप्रेशन···दिनों दिन डिप्रेशन·· हफ्तों का डिप्रेशन···

और अब वह टाँग नहीं हिला पा रहा! संजय को लग रहा है कि बीमारी गंभीर है। इस घबराहट में संजय एक जूनियर डाक्टर से पूछता है, "डाक्टर, मैं ठीक हो जाऊँगा। डाक्टर एक मिनट के लिए उसके बैड के पास रुकता है। उसकी ओर भरपूर निगाह से देखता है। उसकी निगाह में निराशा की धुंधली छाया है। बोलता कुछ नहीं और चला जाता है।

सुबह हो गई है।

खिड़की के बाहर रोशनी है और वार्ड में अभी भी अन्धेरा है।

उसी समय सावित्री थर्मस में चाय लेकर सामने आ खड़ी होती है।

उसे देखकर संजय को तसल्ली हुई और इत्मीनान की साँस आई किन्तु उसकी निगाह में शिकायत है।

संजय पूछता सिर्फ इतना है, "बच्चे कैसे हैं?"

"बच्चे तो ठीक हैं, पर शहर में कर्फ्यू लगा हुआ है और पंजाब की बुरी हालत है! मोहन भापा, स्वराज भैन तथा सुदेश का क्या हाल होगा? मुझे तो उनकी भी फिकर लग गई है!"

पिछले तीस मिनटों से डाक्टर अवस्थी मेडीसन के सीनियर प्रोफेसर डा० एल० एस० चावला को सारा केस समझा रहे हैं। रात भर में जो टेस्ट करवाए

हैं उनकी रिपोर्ट दिखा रहे हैं। सभी डाक्टरों की निगाहों में जिज्ञासा है किन्तु साथ ही आशंका तथा विषाद का मिला-जुला भाव भी।

सावित्री को एक कोने में सहमे सिमटे देखकर डा० चावला उसके पास आते हैं और बहुत धीमी आवाज में कहते हैं, "देखिए, आपके बताए सिम्पटम्ज और हमारे टेस्टों से समझ में जो बीमारी आ रही है—वह बहुत रेयर है, बहुत कम लोगों को होती है, दस लाख आदमियों में से किसी एक को होती है। भारत में तो इस बीमारी के बहुत कम केसिज देखने में आए हैं। आप पढ़ी-लिखी समझदार महिला हैं—सो, आई विल मेक यू अंडरस्टेंड! बीमारी क्या है? इसका नाम है पोरफायरिया! इस बीमारी की वजह से मिस्टर मेहता के शरीर का सम्पूर्ण नर्वस सिस्टम ठीक से काम नहीं कर रहा। हमारे उठने-बैठने, चलने-फिरने में नर्वस सिस्टम की एक बड़ी भूमिका होती है। मोटर नर्वस का दिमाग से सम्बन्ध होता है—हमारी हरकत की सारी सोच इन्हीं के द्वारा हाथ-पाँव तक पहुँचती है और हम हाथ या पाँव हिलाते हैं। अब इनकी मोटर नर्वस पर पारफोबोलोजिन नामक टाक्सिन, एक झिल्ली जमती जा रही है—जिससे ये क्रेनियल नर्वस के संदेश को ग्रहण नहीं कर पातीं। इसीलिए ये पाँव नहीं हिला पाते। सामान्य पेरालिसिस में मोटर नर्वस कमजोर हो जाती है। इनका नर्वस सिस्टम कमजोर नहीं हुआ, नकारा हो गया, इन-ऐफिक्टव हो गया है। इट इज नॉट वर्किंग।"

सावित्री की समझ में सिर्फ इतना आया कि बीमारी गंभीर है। परन्तु अब वह पीजीआई जैसे अस्पताल में पहुँच चुकी है, कौन-सी ऐसी बीमारी है जिसका इलाज यहाँ न हो सके। कितनी खतरनाक बीमारियों के साथ रोगी यहाँ आते हैं और ठीक हो जाते हैं। शाम को डा० चावला विशेष रूप से आते हैं। संजय मेहता की तबीयत और खराब हो रही है। डा० चावला समझ नहीं पा रहे कि मिसेज मेहता से कैसे बात करें? क्या बात करें! असमंजस के भाव पर काबू पाकर डा० चावला कहते हैं—"देखिए मिसेज मेहता, लैट मी बी फ्रेंक विद यू—जैसे-जैसे समय बीतेगा, बीमारी बढ़ेगी। उसी तरह बढ़ेगी जैसे बाढ़ का पानी सारे गाँव या शहर को अपनी लपेट में ले लेता है—और कोई कुछ भी नहीं कर सकता—सिर्फ अपने कीमती सामान को समेटने की कोशिश करता है। सो हम भी बीमारी की रोकथाम में कुछ नहीं कर सकते, सिर्फ इनके 'वाइटल आर्गनस्' को चलाए रखने की कोशिश करेंगे। कोशिश होगी कि साँस अपनी गति से चलती रहे, हृदय की धड़कन बनी रहे। ऑक्सीजन लगाएँगे, रेस्पीरेटर लगाएँगे। जो कुछ हमसे बनेगा, सभी करेंगे परन्तु···परन्तु इस बीमारी का हमारे पास सीधा कोई इलाज नहीं।" सावित्री को लगा जैसे भूचाल आ गया हो और उसका सारा घर डोल रहा है! दीवारें कांप रही हैं, छत कब भरमरा कर गिर जाएगी, नहीं

जानती। अपने इस घर को विध्वंस होने से कैसे बचाए ? उसने डा० चावला की ओर देखा—खुली रह गई खाली-खाली आँखों से : होंठ खुले और अवाक ! "मैं आपकी पीड़ा को समझ सकता हूँ, मिसेज मेहता, बट, लेट अस फेस द रियलिटी ! तकलीफ तेजी से बढ़ रही है और हमारे पास दवाई के नाम से हैं न्यूरोविन या विटेमिन बी—जो इनके नर्वस सिस्टम को सस्टेन करता है। बस ! कोई ऑपरेशन भी नहीं हो सकता !" डाक्टर चावला के स्वर में निराशा और विवशता का भाव था। यह कहकर वे अपने मरीज संजय मेहता की ओर देखने लगे, जैसे मिसेज मेहता से आँख मिलाने की उनमें हिम्मत न हो ! मरीज की स्थिति को इस प्रकार टटोल रहे थे कि जैसे कहीं उन्हें कोई रास्ता सूझे। वहाँ निराशा के गहरे अन्धकार के अलावा कुछ नहीं था। डा० चावला मुड़े और कमरे से बाहर जाने के लिए दरवाजे की ओर बढ़े।

सावित्री अवाक सी, पत्थर के बुत सी वहीं खड़ी रह गई।

"सुनिये मिसेज मेहता।" डा० चावला के बुलाने पर वह चौंकी और उनके पीछे-पीछे चलती हुई कमरे से बाहर निकली। डा० चावला ने बड़े तटस्थ भाव से किन्तु पूरी सहानुभूति के साथ समझाते हुए कहा, "मिसेज मेहता मैं आपको अंधकार में नहीं रखना चाहता। सच्चाई यह है कि—देयर इज ओनली टू परसेंट होप ऑफ सर्वाइवल ! आप जिस किसी को बुलाना चाहती हैं, बुला लें। अकेले आपके लिए इन्हें सँभालना मुश्किल हो जायगा !"

"सँभालना तो आपने है डाक्टर साहब, वैसे बुला रही हूं सबको !"

डा० चावला की निगाह सावित्री की ओर गयी। वह निष्कम्प लौ की तरह सीधी खड़ी थी।

"हम तो अपनी ओर से पूरी कोशिश करेंगे ही—पर···"

"पर, यही कहना चाहते हैं न कि इस बीमारी का इस समय बना-बनाया इलाज नहीं है !" सावित्री के चेहरे पर एक दृढ़ संकल्प का भाव झलक रहा था और वह कहती जा रही थी, "इसका मतलब यह भी तो नहीं इस बीमारी का इलाज सोचा भी नहीं जा सकता। यह केस रिसर्च इंस्टीट्यूट के लिए एक चैलेंज भी तो हो सकता है।"

"चैलेंज ??" डा० चावला ने सावित्री की ओर ऐसे देखा जैसे मन ही मन सोच रहे हों, कैसी है यह महिला ? उसका पति इतनी तेजी से मौत की जकड़न में फँसता चला जा रहा है और वह चुनौती की बात कर रही है। सामान्य महिला यह सब सुनकर रोना-धोना शुरू कर देती।

"चैलेंज कह लें, या इसे यूं भी कह सकते हैं, इट इज ए केस फॉर रिसर्च इंस्टीट्यूट।" सावित्री बड़े नपे-तुले शब्दों में बात कह रही थी। आपसी बातचीत

में अक्सर वह अंग्रेजी का प्रयोग नहीं करती थी। अंग्रेजी का यह वाक्य जैसे उसके भीतरी संकल्प को शब्द दे रहा था।

डाक्टर चावला के चेहरे से निराशा की परछाई फीकी पड़ने लगी और सावित्री के कंधे को थपथपाते हुए बोले, "मिसेज मेहता, वी शैल ट्राई टु डू वॉट-एवर बैस्ट वी कैन डू, बट···"

"आई अंडरस्टेंड ! मेरा मतलब तो सिर्फ इतना है कि इलाज खोजा तो जा सकता है ! रिसर्च इंस्टीट्यूट में इलाज नहीं खोजेंगे तो कहाँ खोजेंगे।"

"आई एग्री, आई एग्री विद यू !" यह कहते हुए डा० चावला नर्स को हिदायतें देने लगे। साथ चल रहे डा० अवस्थी को कहा कि चौबीस घंटे एक डाक्टर की ड्यूटी इस कमरे में लगवाने के लिए डायरेक्टर से परमीशन ली जाए।"

"इट विल बी डन"

सभी डाक्टरों के चले जाने के बाद सावित्री बाथरूम में जाकर बहुत रोई। रोती रही। रोती रही। उसी रुलाई के दौरान जैसे भीतर से किसी ने कहा, रोने से कुछ नहीं होगा। उसे अकेले ही सब सँभालना है। उसकी सहायता के लिए कोई नहीं आ सकता। पंजाब के सभी बड़े शहरों में कर्फ्यू लगा है। अमृतसर का स्वर्ण मंदिर फौजों ने घेरा हुआ है। अमृतसर से मोहन भापा नहीं आ सकते, गुरदासपुर से स्वराज भैन नहीं आ सकतीं। मोगा से स्वदेश नहीं आ सकती। आ सकते हैं सिर्फ दिल्ली से संजय से बड़े भाई अजय। ऑपरेशन ब्लू स्टार के कारण पंजाब में एक मातमी माहौल है। बसें चलनी बन्द हैं। रेल भी नहीं चल रही। कर्फ्यू के कारण अपनी गाड़ी में भी यात्रा सम्भव नहीं। 'द होल प्रोविंस इज पैरा-लाईज्ड' ! एक ठहराव है !

संजय मेहता बिना हरकत के निश्चेष्ट, निश्चल गतिहीन बिस्तर पर लेटा है। डाक्टर ने बताया है कि संजय के खून में पोरफोबोलोजिन नामक टॉक्सिन बढ़ गया है। टॉक्सिन को बोलचाल की भाषा में जीव-विष कहते हैं। धमनियों में बहता जीव-विष युक्त खून प्रेरक तंत्रियों को नकारा क्यों कर देता है ? क्यों संजय अपनी टाँग नहीं हिला सकता ? अमृतसर से मोहन भापा चण्डीगढ़ क्यों नहीं आ सकते। उनका राजनीति और धर्म से कुछ लेना-देना नहीं। पठानकोट से स्वराज भैन क्यों नहीं आ सकती ? मोगा से जीजाजी और स्वदेश क्यों नहीं आ सकते। मतलब, संजय के खून में खराबी है और पंजाब में खून खराबा हो रहा है ! पंजाब में खून खराबा न हो, शायद इसीलिए सभी शहरों में कर्फ्यू लगाया गया है। पुलिस शहरों की गली मुहल्लों में चौबीसों घंटे गश्त लगा रही है। संजय की देखभाल के लिए चौबीसों घंटे एक डाक्टर उसके कमरे में रहने लगा है। संजय की वीमारी को एक चुनौती की तरह से स्वीकार कर लिया गया। पीजीआई में

इस बीमारी का पहला केस होने के कारण हर विभाग के डाक्टर उसे देखने आते हैं। जाँघें निस्पन्द हो गई हैं। जीव-विष खून में लहर की तरह आगे बढ़ रहा है। फेफड़े काम करते रहें, हृदय की गति चलती रहे—उसके लिए रेस्पिरेटर लगाया गया है। रेस्पिरेटर अधिक समय के लिए लगाना होगा, इसलिए ट्रिकास्मी की जा रही है। ट्रिकास्मी द्वारा गले में एक सुराख किया जाएगा, जिससे सीधी ट्यूब फेफड़ों में डाली जाएगी।

ट्रिकास्मी करते ही संजय का बोलना बन्द हो गया है। एक अजीब भयातुर आँखों से वह आस-पास खड़े परिजनों की ओर देख रहा है। दहशतजदा उसका चेहरा जैसे सभी से पूछ रहा है, यह क्या हो रहा है? पास खड़े डाक्टर ने समझाया कि स्पीच हमेशा के लिए नहीं गई। जब यह सुराख बन्द कर दिया जाएगा, स्पीच रिस्टोर हो जाएगी।

सुराख कब बन्द होगा?

स्पीच कब रिस्टोर होगी?

वह नहीं जानता। अब उसकी समझ में इतना आ रहा है कि वह धीरे-धीरे अधिक असहाय और परावलम्बी होता जा रहा है।

वह पाँव नहीं हिला सकता।

वह बोल नहीं सकता।

उसके हाथ भी भारी-भारी से लगने लगे हैं। खून में पोरफोबोलिजन नामक जीव-विष बाढ़ की तरह से उसके हाथों को भी निकम्मा कर रहे हैं। हाथ की तंत्रियों पर भी विषाक्त झिल्ली जमती जा रही है। भयातुर निगाहों से वह अपनी पत्नी की ओर देखता है। सावित्री के खिन्न चेहरे पर अवसाद की गहरी छाया है। संजय की भयातुर निरीह निगाह की भाषा शायद सिर्फ सावित्री ही पढ़ सकती है। पास खड़े अजय की निगाह भी संजय के चेहरे को टटोल रही है—संजय बोल सकता तो क्या कहता?

···और अब से संजय की आँखों की भाषा से ही उससे संवाद करना संभव था। यदि उसे कोई तकलीफ होती तो कराहट से वह व्यक्त करता। तकलीफ कहाँ है? क्या है? क्या चाहिए?—और प्रत्येक प्रश्न के अनेक वैकल्पिक प्रश्न—सिर में दर्द है, पीठ थक गई है, साँस ठीक नहीं चल रही? प्यास लगी है? नींद नहीं आ रही? सभी संभावित प्रश्न पूछने पर ही मुश्किल से सही बात पता चलती है?

ट्रिकास्मी करने के बाद से कमरा रेस्पीरेटर की 'पिक-पिक' से गूंजने लगा है। सभी ने मुंह पर मास्क लगा लिए हैं। सामने एक कुर्सी पर डाक्टर बैठा रहता

है। हर आठ घंटे के बाद डाक्टर की ड्यूटी बदल जाती है।

रेस्पीरेटर की पिक-पिक की आवाज संजय के साँस की रफ्तार को व्यक्त करती है। पिक-पिक-पिक पिक-पिक-पिक-पिक—पिक-पिक···और कई बार लगता जैसे साँस उखड़ने लगी है।

जब ऐसा होता डाक्टर चौकन्ना होकर गले में से साँस की नाली निकालकर गले के छेद में से बलगम निकालने के लिए 'सँक्शन' मशीन द्वारा एक बारीक-सी नली को गले में डालता है। बलगम निकलने पर साँस फिर से ठीक चलने लगता है।

पंजाब के शहरों से कर्फ्यू हट गया है। मोगे से स्वदेश तथा गुरदासपुर से स्वराज भैन आ गई हैं। अमृतसर से मोहन भापा अभी नहीं आ सके। भले ही आतंकवादी पस्त हो चुके हैं। किन्तु माहौल में तनाव है। शायद अब गाड़ियाँ नियमित रूप से चलने लगेंगी। रेस्पीरेटर की पिक-पिक, पिक पिक पिक ··की आवाज से लगता है सब ठीक चल रहा है!

अजय, स्वराज भैन को बहुत समझा-बुझाकर लाते हैं—संजय के सामने रोना-धोना नहीं! सिर्फ यही कहना है—सब ठीक हो जाएगा!

स्वदेश भी यही कहती है—सब ठीक हो जाएगा!

बड़े जीजा, छोटे जीजा—सब यही कहते हैं! किन्तु संजय सबकी आँखों में आशंका, खौफ, दहशत को पहचान रहा है। उनके इस खौफ और दहशत से अपनी बीमारी की गम्भीरता का भी अन्दाजा लगा रहा है। उनकी टटोलती निगाह का स्पर्श संजय महसूस करता है। उन निगाहों में एक आशंका भी झांकती है कि शायद वे उसे आखिरी बार देख रहे हैं। वैसे, कहते सब यही हैं—सब ठीक हो जाएगा।

पंजाब में सब ठीक हो रहा है। मोहन भापा अमृतसर से आ गये हैं। लाख समझाने के बावजूद मोहन भापा और भाभी संजय के कमरे में दाखिल होते ही, जैसे ही उन्होंने रेस्पीरेटर की पिक-पिक-पिक-पिक-पिक की आवाज सुनी और संजय को रेस्पीरेटर की नलियों, फूड पाइप, पेशाब के लिए केथीटर तथा सँक्सन मशीन में घिरे देखा, दहाड़ मार कर रोने लगे।

उन्हें देखकर संजय ने आँखें बन्द कर लीं तथा उसके दिल की धड़कन अव्यवस्थित हो गई।

ड्यूटी पर बैठा डाक्टर घबरा गया। सीनियर डाक्टर बुलाए गये।

डाक्टरों की राय थी, डिप्रेशन संजय के लिए हानिकारक है। जैसे-जैसे समय

बीत रहा है वह अपनी बीमारी की असलियत जान रहा है। बोल नहीं सकता। मन ही मन डूबने लगा है। डिप्रेशन में जा रहा है। डिप्रेशन से उसका नर्वस-सिस्टम, स्नायुतंत्र कमजोर हो जाएगा। इससे प्रेरक तंत्रिकाओं पर झिल्ली की पकड़ और मजबूत हो जाएगी। यह इसके लिए अच्छा नहीं। इससे अच्छा है, इसे नीम बेहोशी में रखा जाए। एडेटिव दिये जाएँ। किन्तु वार्बेच्यूरेट इसके लिए जहर के समान है। एक डाक्टर ने सुझाया—'इस स्थिति में लार्जेक्टल इज द आनसर'!

संजय अब नीम बेहोशी में रहने लगा है। रेस्पीरेटर की पिक-पिक···पिक-पिक की आवाज। छत पर चलता पंखा। पंखे की गति ही एकमात्र गति है। संजय प्राय: उसे ही देखता रहता है। नाक की नली से नियमित रूप से दिया जाने वाला लिक्विड फूड। हर चौथे पाँचवें घंटे। गले के सुराख से बलगम निकालने के लिए सॅक्शन। उसकी हर तकलीफ को जानने की कोशिश में पत्नी सावित्री सदा उसके चारों ओर मण्डराती है। उसका भाई इस कोशिश में कि दुनिया में कहीं भी यदि इस बीमारी का कोई इलाज ढूँढ़ा गया है तो पता लग सके! पीजीआई में डाक्टरों की हर मीटिंग में उसका केस डिसकस होता। पॉरफायरिया के सम्बन्ध में जितनी भी खोज हुई है, उसका हवाला डा० चावला तक पहुँचने लगा। संजय का केस पीजीआई का स्पेशल रिसर्च केस बन गया है।

आज संजय को बीमार हुए दस दिन बीत गये हैं। बीमारी की रोकथाम संभव नहीं लगती। पोरफोबोलोजिन नामक जीव-विष का बहाव सिर की ओर बढ़ रहा है। हाथ नकारा हो चुके हैं। पाँव की तरह से वह अब हाथ भी नहीं हिला सकता।

···और अब आँखें झपकानी भी बन्द हो रही हैं। कमरे में निरन्तर रहने वाले जूनियर डाक्टर की यह रिपोर्ट डाक्टर चावला को बेहद परेशान कर देती है। पोरफोबोलोजिन-जीवविष के बहाव को यदि अब न रोका गया तो सारा प्रयत्न बेकार हो जाएगा। इस जीव-विष की धारा मस्तिष्क की ओर चली गई तो उसके बाद कुछ नहीं किया जा सकता! कुछ भी नहीं!!

डाक्टरों की बैठक में एक बार सोचा गया, "क्या इस मरीज का सारा खून बदला नहीं जा सकता, केवल आठ बोतलों की ही तो बात है।"

"इसमें रिस्क ज्यादा है!"

"बिना इलाज के चलाए रखने से भी ज्यादा!"

डाक्टर चावला का कथन था कि खून बदलने से सर्वाइवल की उम्मीद दस प्रतिशत से ज्यादा नहीं। जबकि इस तरह चलाए रखकर हम निरन्तर इलाज

की खोज कर रहे हैं। डाक्टरों की बैठक में कई बार सावित्री का वाक्य दोहराया गया, "ए फिट केस फॉर रिसर्च !" और साथ ही इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा था, "संजय को जीवित रखने के लिए हर मुमकिन कोशिश करना, रिसर्च की स्पिरिट को जीवित रखना है !" इसीलिए मेडीसिन में एम० डी० करने वाले सभी छात्रों को डा० चावला ने यह हिदायत दी कि सभी उपलब्ध रिसर्च-जर्नल्स में पोरफायरिया सम्बन्धी केस हिस्ट्री पढ़कर उनके साथ डिस्कस करें।

यह सूचना पाकर कि पॉरफोबोलोजिन जीब-विष का प्रभाव संजय की आँखों पर हो रहा है डा० चावला निराश हो गये हैं।

किन्तु डाक्टरों की बैठक में जब यह कहा गया कि इस केस में हम ऑक्सीजन जाया कर रहे हैं, तो डाक्टर चावला ने इस कथन का विरोध किया और कहा, यदि पी० जी० आई० मात्र अस्पताल होता, तो इस प्रकार सोचा जा सकता था। किन्तु यह एक रिसर्च इंस्टीट्यूट है। ऐसे 'रेयर केस' में आखिरी साँस तक कोशिश जारी रखनी चाहिए। क्योंकि आज खोजा गया इलाज आने वाली पीढ़ी की रक्षा कर सकता है। ऐसे मरीज को जीवित रखना, इलाज की संभावना को जीवित रखना है। अनेक डाक्टरों ने उनका समर्थन किया। इसी बैठक में न्यूरो सर्जन डा० गुलाटी ने बताया कि उन्हें याद आ रहा है कि जर्मनी में पोरफायरिया के एक केस में होमो डायलसिस से फायदा हुआ था।

होमो डायलसिस शब्द ने डा० चावला को जैसे एक राह दिखाई। डा० चावला की निराशा दूर हो गई। संकट की घड़ी में जैसे आशा की हल्की-सी किरण चमकी हो। जर्मन मरीज की हिस्ट्री का ब्रीफ मिलने तक उन्होंने कोई कदम नहीं उठाया। केस हिस्ट्री मिलते ही डायलसिस की तैयारी शुरू हो गई। जिस तेजी से बीमारी बढ़ रही थी, उसे देखते हुए रात को डायलसिस करने का फैसला किया गया।

पता चला कि डा० के० एस० चुघ ने डायलसिस करना है। रात को डायलसिस होने जा रहा है यह खबर परिवार के सभी सदस्यों को मिल चुकी है। संजय अब हाथ-पाँव कुछ भी नहीं हिला सकता। चार आदमियों ने मिलकर उसे वार्ड-बैड से ट्रॉली में लिटाया। एक ने नाक से निकली फूड-पाईप पकड़ी। दूसरे ने रेस्पीरेटर साथ धकेला। बड़े भाई अजय ने केथिटर के साथ लगी बोतल पकड़ी। कमरे से बाहर निकलते ही संजय ने देखा उसके परिवार के सभी लोग वहाँ मौजूद है। सबके संत्रस्त चेहरों पर भय की घनी छाया है। सबको एक साथ इस प्रकार देखकर संजय मन ही मन आशंकित हुआ। अजय के चेहरे पर भी चिन्ता की गहरी रेखाएं हैं। अजय डाक्टर से बात कर डायलसिस के लिए कुछ

कागजात पर हस्ताक्षर कर लौट रहा है। डायलसिस रूम तक सभी परिजन साथ-साथ चल रहे हैं। किसी ने उन्हें साथ चलने के लिए रोका नहीं। संजय परिजनों के बीच अपनी पत्नी को ढूंढ़ रहा है। सावित्री अपनी दोनों बेटियों के साथ डायलसिस रूम के बाहर खड़ी है। असल में डाक्टर चुघ के यह कहने पर कि इस तरह के मरीज का डायलसिस वे पहली बार कर रहे हैं—इसका परिणाम क्या होगा, कुछ नहीं कह सकते। बट लैट्स होप—अच्छा ही होगा !" शब्द आशाजनक थे, किन्तु स्वर में उत्साह नहीं था। निराशा की छाया थी। तभी सावित्री ने सोचा बेटियों को अपने पापा से मिला दे और वह उन्हें लेने घर चली गई थी।

ट्राली डायलसिस रूम में जा रही है। संजय की निगाह सावित्री के साथ खड़ी दिव्या और अपूर्वा पर है। अजय ट्राली को धकेल रहे हैं, संजय की आतुर आँखों में व्यथा और विवशता का भाव देखकर अजय ने कहा, "तुम्हें बच्चों और सावित्री की चिन्ता है न—बिल्कुल फिकर मत करो ! इनका अपनी जान से भी ज्यादा ध्यान रखेंगे।"

संजय एक पल के लिए अजय की ओर देखता रह गया। उसकी बात का अर्थ खुल रहा था। उसने पहली बार महसूस किया कि शायद वह जीवन के उस किनारे पर पहुँच गया है जिसके आगे अन्धेरा है—मृत्यु है ! यह जीवन-लीला की समाप्ति का समय—यह अन्त समय है। अन्त समय आ गया ? धरती से कूच का समय ! मौत की घड़ी इतने पास है ! चाहे तो उसे छू ले ! पर आदमी मौत की बात सोचना भी नहीं चाहता ··· जिजीविषा कितनी प्रबल होती है। पिछले दस दिनों से अस्पताल में बिना हरकत के लकड़ी के जड़ शहतीर की तरह पड़ा है। आक्सीजन लगी है। रेस्पीरेटर की मदद से साँस चल रही है। फिर भी उसे लगता है वह मरेगा नहीं। मृत्यु की बात उसने एक बार भी नहीं सोची !

···अब उसका डायलसिस हो रहा है···हाथ की कोहनी के पास नस को काट कर नली से खून एक मशीन में जा रहा है···जाँघ के पास नस काट कर एक स्थान बनाया गया है जहाँ से खून शरीर में लाया जा रहा है।

···उसे लार्जेक्टल की हैवी डोज दे रखी है···उसे थकान महसूस हो रही है। उसे झपकी आती है···

मरुभूमि में एक साथ कई दिशाओं में भटकते लोगों की भीड़ उसे नजर आती है ! इस भीड़ में वह भी है !

···अब भीड़ के सभी लोग जड़ हो गये हैं अचल अस्थिर शरीर मात्र ! चेतना-शून्य स्पन्दनहीन शरीर बिना हाथ पांव हिलाए बहते चले जा रहे हैं। इन शरीरों का भूमि से कोई सम्बन्ध नहीं। वायवी तरलता में ये जड़ लोग बह

रहे हैं। मरुभूमि की आँधी की तरह सायं-सायं करते समय का अहसास ! समय की गति और शरीर की जड़ता !

नीम बेहोशी में उसे फिर से अनेक दृश्य दीखते हैं। सपने की तरह से—पर यह अहसास भी, कि ये सपने नहीं हैं।

जो कुछ देख रहा है वह वास्तविकता है, जैसे अतीत की कोई घटना चित्र रूप में सामने आ जाए। इस दृश्य के सभी आदमी बौने हैं; छोटे-छोटे कद के सैकड़ों की संख्या में ! जैसे चींटियों का रेला हो। वह उन सबमें से अलग है। उनका कोई सरदार भी है। वे सब अपने सरदार के कहने से काम करते हैं। उनके रुकने के पड़ाव भी विचित्र हैं ! गुलिवर ट्रेविल के लिलीपुट की तरह उनका आकार है। जिप्सी लोगों की तरह उनका पहनावा। चीनी मसखरों की तरह उनकी तोंदें बढ़ी हैं। एक हँगामें के साथ नाचते-कूदते चले जा रहे हैं। वह कोई आकार लेकर उनमें शामिल नहीं होता—वह मात्र एक अहसास है जो उनके साथ यात्रा कर रहा है।

शरीर की जड़ता और सपनों की यात्रा !

उसने आँख खोली और देखा अभी डायलसिस चल रहा है···

गहरे पानी में जैसे बुलबुला ऊपर उठे और फट जाए···वैसे ही संजय के मन में एक विचार उठा···कुल्लू मनाली देव भूमि, वैली ऑफ गाड्स तो उसने देखी ही नहीं !···और कूच का समय भी आ गया ! संजय की समझ में कुछ नहीं आता, यह सब क्या है···??

सपने नरक के हैं ?

आकांक्षा देव-भूमि की है ??

शरीर जड़ है, हरकत के बिना—पर सोच में यात्राएँ हैं !!

सपनों के बौने, सोच की यात्राएँ और कुल्लू की नदी का बहाव !

वह इन सबमें सम्बन्ध बैठाने की कोशिश नहीं करता !

डायलसिस ठीक हो गया है।

पारफोबोलोजिन नामक जीव-विष काबू में आ गये हैं। सप्ताह भर बाद संजय की उँगलियों में हरकत आ गई। इस हरकत को देखकर डाक्टर चावला इतने खुश हुए कि जैसे उन्होंने स्वयं ही नया जीवन पाया हो। खुशी के साथ सावित्री का हाथ थामकर बोले, "मिसेज मेहता, आज की सफलता आप ही के कारण हुई है—आई गिव ऑल क्रेडिट टू यू ! नाऊ आई कैन एश्योर यू, ही वुड बी परफेक्टली ऑल राईट एण्ड लिव लाइक ए नार्मल मैन ! क्योंकि पोरफायरिया जहाँ इतनी भयानक है, वहाँ इसकी एक खूबी भी है—यह रिवर्सेबल है ! जैसे

बाढ़ का पानी उतर जाता है, वैसे ही यह बीमारी शरीर छोड़ जाती है। रिवर्सल प्रोसिस शुरू करना मुश्किल होता है—और अब वह शुरू हो चुका है! नाउ इट्ज जस्ट मैटर ऑफ टाइम—ए मंथ, टू मंथ्स, थ्री मंथ्स!"

"ये ठीक हो जाएँगे?" सावित्री को जैसे महसूस नहीं हो रहा था।

पास खड़े संजय के बड़े भाई मोहन भापा की आँखों में खुशी के आँसू आ गये हैं और वे बोले, "मतलब, सब कुछ टीक हो जाएगा न—वक्त का फर्क नहीं पड़ता—तीन महीने लगें या साल, पर ठीक होना चाहिए!" और मन ही मन मोहन भापा सोच रहे हैं कि तब वे आराम से अमृतसर लौट सकेंगे।

